DATE ___/___/___

શ્રી સુરેન્દ્ર રામ સૂરીશ્વરજી
સદ્ગુરુભ્યો
નમઃ

પૂ. આચાર્ય ભગવંત શ્રીજી/શ્રી-
પદ્મસૂરીશ્વરજી
મ. સા. ના ૩૬ વર્ષના
સંયમ પર્યાયની
અનુમોદના
નિમિત્તે

DATE __/__/____

YOGA DRASHATI SAMUCHCHAYA

द्वारा HARIBHADRASURI M.

Gowalia tank
Mumbai

नमो नमः श्री गुरु राम-जगच्चन्द्र सूरये ॥ गाथा 1-2

DATE ___/___/___

योग दृष्टि समुच्चय

(कर्ता: हरिभद्र सूरि म.)

नत्वेच्छायोगतोऽयोगं योगिगम्यं जिनोत्तमम्
वीरं वक्ष्ये समासेन योगं तद्दृष्टिभेदतः ॥1॥

-जिनों में उत्तम, योगियों को गम्य और स्वयं अयोगी ऐसे वीर प्रभु को इच्छायोग से नमनकर योग को उसके दृष्टिभेद से संक्षेप में कहूँगा।

* अनुबंध चतुष्टय

नमस्कार-मंगल	प्रयोजन	संबंध	अभिधेय
शिष्टसमयप्रतिपालन विघ्नविनायकोपशांति	कर्तुः श्रोतुः अनंतर परंपर	कर्तुः श्रोतुः	योगदृष्टि के आठ भेद

* मंगल्य - वीर प्रभु को नमस्कार द्वारा
* परंपर प्रयोजन (कर्ता और श्रोता का) - निर्वाणपद प्राप्ति
* अनन्तर प्रयोजन → कर्तुः - योग को कहना
  → श्रोतुः - प्रकरण-अर्थ का परिज्ञान
* संबंध ⓐ श्रोता का - साध्यसाधनलक्षणः अर्थात् साधन (ग्रंथ) से साध्य (योग) को प्राप्त करना। ⓑ कर्ता का - यहाँ कर्ता का साक्षात् कोई संबंध नहीं है। ये आठ दृष्टियाँ हरिभद्र सू.म. ने स्वयं के चिंतन से प्रकट की है यद्यपि उन्होंने अन्य दर्शन के योगग्रंथों का सहारा लिया है।

इहेच्छादियोगानां स्वरूपमभिधीयते
योगिनामुपकाराय श्लक्ष्णं योगप्रसङ्गतः ॥2॥

इसी क्रम में यहाँ पर योग के प्रसंग से योगियों के उपकार के लिए इच्छादि योगों का स्वरूप कहा जाता है।

उपकार = योगहृदयावबोधः। योग का हृदय यानि तात्पर्य उसका बोध।
योगी से यहाँ पर कुल योगी और प्रवृत्तचक्र योगी का ग्रहण है, निष्पन्न योगी नहीं।

DATE ___/___/_____

कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः
विकल्पो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥३॥

- सुने हैं आगम जिसने तथा योग करने की इच्छावाले ज्ञानी का भी प्रमाद के कारण जो विकल्प धर्म-योग है, वह इच्छायोग कहा जाता है

★ इच्छायोग का लक्षण- विकल्प धर्म योग। विकल्प शब्द के दो अर्थ- रहित और अपूर्ण। यहाँ पर दूसरा अर्थ लेना है अर्थात् वह धर्म-व्यापार तो सभी करता है किंतु अपूर्ण करता है।

★ इच्छायोग के अधिकारी का लक्षण-ⓐ कर्तुमिच्छु- करने की इच्छा कर्म के क्षयोपशम के कारण सहज होती है, दिखावा करने या किसी की प्रेरणा से नहीं तथा एकदम तीव्र इच्छा होती है। ⓑ श्रुतार्थ- जिसने आगम सुने हैं वह। ⓒ ज्ञानी अपि- ज्ञानी भी क्योंकि श्रुतार्थ भी मंद क्षयोपशम के कारण अज्ञानी हो सकता है, तथा यहाँ अपि शब्द से दोनों का ग्रहण है।

★ विकलता का कारण- प्रमाद। प्रमाद के पाँच प्रकार- ① निद्रा ② विकथा ③ मद्य ④ विषय ⑤ कषाय। ज्ञानी जीव को तीव्र इच्छा के कारण अविधि दोष लगाकर धर्म योग करता है जैसे- अकाल में स्वाध्याय करना आदि।

★ इच्छा है प्रधान जिसमें वह इच्छा योग। विधि जानने के बावजूद भी स्वयं की इच्छा प्रमाणे धर्म योग करना।

शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥४॥

- अप्रमादी ऐसे श्राद्ध का तीव्रबोध के कारण ~~वचस~~ वचन से अविकल्प यथाशक्ति धर्म योग शास्त्र योग जानना।

★ शास्त्रयोग का लक्षण- वचन से अविकल्प। वचन अर्थात् आगम, शास्त्र से अविकल्प अर्थात् अखंड, कालादिविकलता क्षति से रहित।

★ शास्त्रयोग के अधिकारी के लक्षण-ⓐ अप्रमादी- विकथादि प्रमाद रहित, स्वयं की पूर्ण शक्ति का उपयोग करते हैं। ⓑ यथाशक्ति- दो अर्थ① शक्ति को उल्लंघे बिन

DATE ___/___/___

(ii) शक्ति होते हुए छुपाए बिना | © श्राद्ध-संप्रत्ययात्मिक श्रद्धावाला, सामान्य से प्रभु के वचन एकान्त हितकारी लगे वह ओघश्रद्धा तथा स्वयं के अनुभव से प्रभु के वचन में जिसे स्वतंत्र विश्वास प्रगट होना अथवा उस अनुभव की प्रतीति वाली श्रद्धा, वह संप्रत्ययात्मिक श्रद्धा |

* अतिकत्वता का कारण- तीव्रबोध | उन्हें अतिचार-गुण-दोष आदि का ज्ञान होता है, जिससे वे स्वयं की प्रवृत्ति को शास्त्रानुसार आचर सके |

* शास्त्र है प्रधान जिसमें वह शास्त्र योग | शास्त्र अर्थात् वचन में अनुभव से उत्पन्न स्वतंत्र विश्वास के कारण सभी क्रिया अखंड करते हैं |

शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥5॥

- शास्त्र में दिखाए गए उपायवाला तथा शक्ति की प्रबलता से विशेष रूप से शास्त्र अतिक्रान्त विषय वाला यह सामर्थ्य नाम का उत्तम योग है |

* सामर्थ्य योग के लक्षण- @ शास्त्रसन्दर्शित उपाय- सामान्य से शास्त्र में बताए हुए उपाय वाला अर्थात् शास्त्र से तो सिर्फ सम्यग्दर्शनादि उपायों का आंशिक रूप ही पता चलता है, विशेष तो अनुभव से ही ज्ञात होता है | ⓑ शास्त्र अतिक्रान्त गोचर- शास्त्र में इस योग के भावों का अथवा अनुभवों का वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता | © उत्तम- यह योग क्षपकश्रेणी में ही होता है अतः अतिबंध फलवान् होने के कारण उत्तम है |

* सामर्थ्य योग के अधिकारी- क्षपक श्रेणी गत जीव (8 से 12 गुणस्थानक)

* शास्त्र अतिक्रान्त विषय का कारण- शक्ति उद्रेक (विशेष से) | सामान्य शक्तिउद्रेक के फल का अंत तो शास्त्र योग ही है | किंतु विशेष से जब शक्ति फोरवते हैं तब अप्रमादी जीव को प्रातिभज्ञान प्रगट होता है और ज्ञान से मोह का नाश होता है |

* आत्मा का सामर्थ्य अर्थात् शक्ति है प्रधान जिसमें वह सामर्थ्य योग | इस योग को शब्दों द्वारा नहीं समझाया जा सकता है |

DATE __/__/____

सिद्ध्याख्यपदसम्प्राप्तिहेतुभेदा न तत्त्वतः
शास्त्रादेवावगम्यन्ते सर्वथैवेह योगिभिः॥६॥

- योगियों द्वारा मोक्ष नामक पद की प्राप्ति के कारणभूत पदार्थ परमार्थ सभी प्रकारों से शास्त्र से ही नहीं जाने जाते हैं।

* मोक्ष के उपाय सम्यग्दर्शन आदि परमार्थ से तो शास्त्र से नहीं जाने जा सकते क्योंकि वह तो अनुभवगत वस्तु है तथा वहाँ तक पहुँचने का मार्ग भी अगोचर है अर्थात् शब्दों से वर्णन कर सके वैसा नहीं है अतः योगियों द्वारा ये पदार्थ अनंतभेदात्मक होने से शास्त्रों से नहीं जान सकते।

* इस प्रकार यह मार्ग होने पर भी इससे शास्त्र की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती है क्योंकि शास्त्रयोग तक पहुँचाने में जीव को शास्त्र ही उपयोगी होते हैं।

सर्वथा तत्परिच्छेदात् साक्षात्कारित्वयोगतः
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेस्तदा सिद्धिपदाप्तितः॥७॥

- सभी प्रकार से उनका ज्ञान होने से साक्षात्कार कराने के भाव का योग होने श्रोता को ~~सर्वज्ञ~~ की सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होने से और उस ही समय सिद्धिपद की प्राप्ति होने से [मोक्ष के हेतु सर्वथा नहीं जान सकते]

* यदि ऐसा माने कि शास्त्र सुनने से ही यदि श्रोता को मोक्ष के उपाय सभी प्रकार से समक्ष में आ जाते हैं तो श्रोता को सुनते-सुनते ही उनके सभी भावों का साक्षात्कार अनुभव हो जाना चाहिए क्योंकि मोक्ष के उपाय में कुछ-कुछ उपाय तो अक्षेप फल साधक भी है। किंतु ऐसा नहीं होने से यह सिद्ध होता है कि शास्त्र से सभी प्रकार नहीं जाने जाते।

* यदि ऐसा माने, श्रोता को श्रवणकाल में ही सभी भावों का साक्षात्कार हो जाता है तो उसे श्रवणकाल में ही सर्वज्ञता प्राप्त होने की आपत्ति आएगी।

* यदि श्रोता को तत्काल ही सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है तो उसे तत्काल ही शैलेशी अवस्था और सिद्धिपद प्राप्त होने कि आपत्ति आएगी।

DATE ___/___/___

अतः यह सिद्ध होता है कि मोक्ष के हेतुभूत उपाय शास्त्रों से नहीं जाने जाते हैं किंतु वे अनुभूति रूप हैं जिनका शब्दों से वर्णन नहीं किया जाता।

न चैतदेवं यत्तस्मात् प्रातिभज्ञानसङ्गतः
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥8॥

जिस कारण से श्रवण मात्र से सिद्धिपद की प्राप्ति नहीं है, उसी कारण से प्रातिभज्ञान से युक्त, अवाच्य और सर्वज्ञत्व आदि का साधन ऐसा सामर्थ्ययोग है।

शंकाकार शंका करता है कि श्रवण मात्र से ही मोक्ष होता है, ऐसा स्वीकार ले तो क्या आपत्ति है। इसका उत्तर देते हैं कि श्रवण मात्र से मोक्षप्राप्ति नहीं होती है क्योंकि श्रवण से जीव को पदार्थ का बोध होता है किंतु मोक्ष नहीं।

तो फिर मोक्ष प्राप्ति का कारण क्या है? तो कहते हैं कि सामर्थ्य योग।

प्रातिभज्ञान - स्वयं की प्रतिभा से प्रगट हुआ ज्ञान। सूक्ष्म तात्त्विक चिंतन रूप ज्ञान, जिससे आगे - आगे मार्ग स्वयंमेव स्पष्ट हो जाता है।

अवाच्य - शब्दों द्वारा नहीं ~~वर्णकी~~ वर्णन नहीं कर सकते।

शंका - प्रातिभज्ञान केवलज्ञान नहीं है क्योंकि वह तो सामर्थ्य योग में ही होता है तथा अन्य कोई छठ्ठा ज्ञान भी नहीं है अतः वह श्रुतज्ञान ही है और शास्त्रों से जाना जा सकता है। उत्तर - यह केवलज्ञान नहीं क्योंकि क्षायोपशमिक होने सर्व द्रव्य-पर्याय के विषय वाला नहीं है। यह श्रुतज्ञान भी नहीं है क्योंकि तत्काल ही उत्कृष्ट क्षयोपशम वाला होने से श्रुत रूप व्यवहार नहीं होता तथा अन्य छठा ज्ञान भी नहीं है। जैसे सूर्योदय रात-दिन से अलग नहीं है तथा रात-दिन दोनों में से एक भी नहीं है वैसे ही यह ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान है। ~~किन्तु इस ज्ञान को श्रुतज्ञान~~ अन्य दर्शनिकारों ने इस तारक, निरीक्षण आदि शब्दों से स्वीकारा है।

DATE __/__/____

द्विधायं धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः
क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादिकर्म तु ॥9॥

- सामर्थ्य योग, धर्मसंन्यास और योगसंन्यास नामक दो भेद का है। धर्म क्षायोपशमिक है तथा योग कायादि कर्म है।

* सामर्थ्य योग के दो प्रकार -

सामर्थ्य योग	गुणस्थानक	त्याग	गुण प्रागट्य
1. धर्म संन्यास	8-12	क्षायोपशमिक भाव	क्षायिक भाव
2. योग संन्यास	13 अंत	चंचलता	स्थिरता

* धर्म अर्थात् क्षमा, मार्दव आदि। योग अर्थात् मन-वचन-काया का व्यापार

द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत्
आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विदः ॥10॥

- द्वितीय अपूर्वकरण में सामर्थ्य योग का प्रथम भेद तात्त्विक होता है। दूसरा भेद आयोज्यकरण के बाद होता है। इस प्रकार विद्वान कहते हैं।

* द्वितीय अपूर्वकरण - प्रथम अपूर्वकरण ग्रंथिभेद के समय होता है, उसके व्यवच्छे के लिए यहाँ द्वितीय शब्द लिखा है। प्रथम अपूर्वकरण का फल सम्यग्दर्शन होता है।

* द्वितीय अपूर्वकरण में धर्म संन्यास तथाविध कर्मस्थिति के कारण और तथाविध संख्यात सागरोपम कर्म की स्थिति घटाने पर तात्त्विक होता है।

* अतात्त्विक धर्म संन्यास तो प्रव्रज्या ग्रहण करते समय भी होता है, क्योंकि उस समय जीव, प्रवृत्ति है लक्षण जिसका, ऐसे प्रवृत्तिलक्षण धर्मसंन्यास को स्वीकारता है। ऐसे धर्म संन्यास से ही जीव में प्रवृत्ति क्षायोपशमिक धर्म और ज्ञा प्रगट होता है। किंतु वह ज्ञान उसे सामर्थ्ययोग तक नहीं पहुँचा सकता, वह क्षायोपशा भाव की वृद्धि करता है।

* तात्त्विक धर्म संन्यास में जीव क्षायोपशमिक भाव छोड़कर क्षायिक भाव के ध

DATE ___/___/___

को प्राप्त करता है।

* प्रव्रज्या के लिए योग्य जीव के लक्षण बताते हैं - ⓐ कृतज्ञ → उपकारी के उपकार को नहीं भूले ⓑ अद्रोहकारी → कोई किसी का द्रोह न करे ⓒ स्थिरः → प्रकृति से स्थिर परिणाम वाला। जो जीव इस प्रकार का नहीं है वह दीक्षा लेने पर भी ज्ञानयोग की आराधना नहीं करता तथा इन गुणों से युक्त जीव ज्ञानयोग अवश्य आराधता है।

* प्रश्न- यदि प्रव्रज्या अतात्त्विक सामर्थ्ययोग है तो वह शास्त्र अतिक्रान्त गोचर कैसे है? उत्तर- सर्वज्ञ के वचनरूप आगम है तथा आगम में ज्ञान योग की प्रतिपत्ति रूप प्रव्रज्या का निरूपण है किंतु श्रोता को श्रवण मात्र से ज्ञान योग की प्राप्ति नहीं होती किंतु उसे पुरुषार्थ द्वारा ही ज्ञान योग की प्राप्ति होती है।

* आयोज्यकरण- 'आ' केवलज्ञान के आभोग यानि उपयोग से 'योज्य' उस प्रकार तत्काल क्षय करने योग्य पन से भवोपग्राही कर्म को अवस्था में 'करण' करना अर्थात् जमाना। अर्थात् कर्म के नाश के लिए जिस प्रकार कर्म को उदयावलिका के आसपास जमाना पड़े उस प्रकार अचिन्त्य शक्ति से स्थापन करना।

* मोक्ष प्राप्ति का क्रम- आयोज्यकरण → समुद्घात → योगनिरोध → शैलेशी अवस्था

* समुद्घात कोई केवली भगवंत करते हैं तथा कोई नहीं करते हैं।

* ऊर्ध्व- बाद में। अर्थात् इस आयोज्यकरण के बाद ही द्वितीय सामर्थ्ययोग अर्थात् योग संन्यास होता है इसलिए यह आयोज्य करण शैलेशी अवस्था के फल वाला है।

* Summary:- पहले जीव में कोई धर्म आदि नहीं होते हैं औदयिक भाव के कारण। फिर जीव जैसे-जैसे सम्यक्त्व, प्रव्रज्या आदि प्राप्त करता है, वैसे-वैसे औदयिक भाव कम होते हैं और क्षायोपशमिक भाव बढ़ते हैं अर्थात् जीव पूर्व में कर्म की मूल स्थिति के विपाक को अनुभवता था किंतु अब जीव कर्म की स्थिति-रस आदि को हीनता से अनुभवता है। इस क्षयोपशम के कारण जीव में ज्ञान, विमलबुद्धि, क्षमा आदि धर्म प्रगट होते हैं। फिर

DATE __/__/____

जीव क्षपक श्रेणी में चढ़ता है तब वह क्षायोपशमिक भाव छोड़कर क्षायिक भावों को प्राप्त करता है। इस दरम्यान जीव के योग भी अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध बनते हैं तथा अंत में जीव योग का त्यागकर। निरोधकर मोक्ष में पहुँच जाता है।

अतस्त्वयोगो योगानां योगः पर उदाहृतः
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः ॥11॥

- इस कारण से ही मोक्ष के साथ जोड़ने वाला होने के कारण सर्व संन्यास के लक्षण वाला अयोग योगों में श्रेष्ठ कहलाता है।

* सर्वसंन्यासलक्षणः- अधर्म और धर्म संन्यास की भी यहाँ पर (अयोग में) परिशुद्धि होने के कारण अयोग सर्वसंन्यासलक्षणवाला है। शैलेशी अवस्था के पूर्व जीव ने अधर्म और क्षायोपशमिक धर्म दोनों का त्याग किया किंतु कर्म-बंध का कारण योग विद्यमान था इसलिए धर्म और अधर्म दोनों की संन्यास परिशुद्ध नहीं थे। अयोगी अवस्था में कर्मबंध बंद होता है इसलिए वे दोनों संन्यास भी यहाँ पर परिशुद्ध होते हैं।

एतत्त्रयमनाश्रित्य विशेषेणैतदुद्भवाः
योगदृष्टय उच्यन्ते अष्टौ सामान्यतस्तु ताः ॥12॥

- इन तीन योग को अनाश्रय करके इच्छादि योग से उद्भवित विशेष से योगदृष्टि कही जा रही है। सामान्य से तो वे योगदृष्टियाँ आठ है।

* अनाश्रित्य शब्द का अर्थ(भावार्थ) यहाँ अत्यम् अथवा कृत्यम् है। इन तीन योगों की बात यहाँ समाप्तकर, इन तीन योगों से उत्पन्न योगदृष्टियाँ कही जा रही है।

* वे योगदृष्टियाँ सामान्य से आठ है तथा विशेष से तो अनंत भेद है।

DATE ___/___/___

मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥13॥

- मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा ये योगदृष्टियों के नाम हैं। और इन योगदृष्टियों के लक्षण को सुनो।

* इन आठों दृष्टियों के नाम यथार्थ अर्थात् अर्थयुक्त है।

(i) मित्रा- इस दृष्टि में योग मार्ग का प्रथम बोध होने से वह जीव के लिए मित्र जैसा है।

(ii) तारा- इस दृष्टि में बोध तारे जैसा है। तारे का प्रकाश तृण के प्रकाश से थोड़ा ज्यादा होता है।

(iii) बला- इस दृष्टि में बोध इतना बलवान् होता है जिससे जीव योग मार्ग में अवक्र गति करता है।

(iv) दीप्रा- इस दृष्टि में बोध दीपक जैसा है। वह बोध दीपक की लौ जैसा स्थिर ~~स्थिर~~ नहीं होता है, तीव्र-मंद होता रहता है।

(v) स्थिरा- इस दृष्टि में बोध स्थिर बोध होता है।

(vi) कान्ता- इस दृष्टि के जीव की प्रकृति कान्त होती है तथा वे शुद्ध उपयोग को अनुसरने वाले होते हैं।

(vii) प्रभा- इस दृष्टि में प्रायः निर्विकल्प दशा होती है इसलिए आत्मा की प्रभा यहाँ पर दिखती।

(viii) परा- यह दृष्टि सभी में श्रेष्ठ है, तुरंत ही केवलज्ञान की प्राप्ति होने के कारण।

समेघामेघरात्र्यादौ सग्रहाद्यर्भकादिवत्
ओघदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया ॥14॥

- यहाँ समेघा और अमेघा रात्रि आदि में, सग्रहादि तथा अर्भकादि की तरह मिथ्यादृष्टि और इतर के आश्रयवाली ओघदृष्टि जानना।

* अक्षरगमनिका- (i) समेघ रात्रि, अमेघ रात्रि, समेघ दिन, अमेघ दिन

(ii) सग्रह- भूत आदि से ग्रहित अग्रह- भूत आदि से रहित

DATE __/__/____

(iii) अमर्भक - बाल्यक अनमर्भक - बाल्यक सिवाय

(iv) मिथ्यादृष्टि - मोतिया, काच आदि व रोग ग्रस्त

इतर अर्थात् अमिथ्यादृष्टि - रोग रहित

★ इस गाथा में ग्रंथकार भ. दृष्टि के दो भेद बता रहे हैं - ⓐ ओघ दृष्टि ⓑ योगदृष्टि। तथा ओघदृष्टि का स्वरुप समझा रहे हैं।

★ जैसे एक दृश्य को देखने में चित्र की उपाधि के भेद से अर्थात् अनेक प्रकार के आरोप से दृष्टिभेद होता है वैसे ही क्षयोपशम की विचित्रता से जीव को पारलौकिक प्रमेय (पदार्थ) में प्रतिपत्तिभेद होता है। यहाँ प्रत्तिपत्ति शब्द क्यों लिखा है? उत्तर - क्योंकि पारलौकिक पदार्थ कभी चर्मचक्षु से नहीं दिखते, वे सिर्फ ज्ञान के क्षयोपशम अनुसार समझे जाते हैं तथा उनका स्वीकार किया जाता है। इस कारण से ही दर्शनभेद होता है।

★ ओघदृष्टि तथा प्रथम चार योगदृष्टि में जीव को दर्शनभेद तथा प्रतिपत्ति भेद होता है।

★ स्थिरादि दृष्टि वाले जीव, जिनका ग्रंथिभेद हो चुका है, ऐसे जीव को यह दृष्टिभेद नहीं होता क्योंकि वे विषय के अनुसार नयों के भेद का ज्ञान होने से नय के भेद को स्वीकारते हैं।

★ स्थिरादि दृष्टि वाले जीवों की प्रवृत्ति, शुद्धबोध होने के कारण, मैत्री आदि भावना के वश से, गंभीर और उदार आशय होने से, कदाग्रह नहीं होने के कारण, परोपकार के लिए होती है। ये जीव संजीवनी चरने वाले बैल के न्याय के समान दूसरे जीव को सभी प्रकार से धर्मबोध कराने का प्रयास करते हैं।

तृणगोमयकाष्ठाग्नि-कणदीपप्रभोपमा
रत्नतारार्कचन्द्राभा सदृदृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥15॥

- सदृदृष्टि वाले योगी की दृष्टि तृण प्रभा, गोमयाग्नि प्रभा, काष्ठाग्नि प्रभा, दीप प्रभा, रत्न प्रभा, तारा प्रभा, अर्क प्रभा, चन्द्र की प्रभा के समान उपमा वाली आठ प्रकार की होती है।

DATE ___/___/___

① मित्रा दृष्टि - इस दृष्टि का बोध तृणाग्नि के कण समान होता है। यह बोध तत्त्व से इच्छित कार्य करने के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि यह बोध प्रयोग के सम्यक् काल तक स्थिर नहीं रहता है, वह नष्ट-प्राय हो जाता है।
प्र. वह बोध स्थिर क्यों नहीं रहता? उ. बोध में की अल्पवीर्यता के कारण अर्थात् बोध की शक्ति मंद होने के कारण, उस बोध से आत्मा में तीव्र पटु स्मृति के बीज रूप संस्कार का आधान नहीं होता है। इस कारण वह बोध प्रयोग काल तक नष्टप्राय हो जाता है।
अतः पटु स्मृति नहीं होने से प्रयोग विकल होता है अर्थात् भाव से वंदनादि कार्य का अयोग होता है। और विकल प्रयोग होने से यह बोध अभीष्ट कार्य करने में समर्थ नहीं है।
प्र. बोध जब नष्ट-प्राय हो जाता है तब वह जीव क्या ओघदृष्टि में चला जाता है? उ. नहीं, वह जीव मित्रा दृष्टि में ही रहता है क्योंकि वह बोध नष्ट-प्राय होता है, संपूर्ण नहीं जाता है तथा विकल प्रयोग भी उस बोध के कारण अथवा बोध के संस्कार से चालू रहता है।
मित्रा दृष्टि वाले जीव को बार-बार यह बोध होता है किन्तु उस अल्प-वीर्य वाले बोध के कारण वह भाव से क्रिया नहीं करता है।
② तारा दृष्टि - इस दृष्टि का बोध गोमयाग्नि के कण समान होता है। यह बोध भी मित्रा दृष्टि जैसा ही है (अंशमात्र भेद है) क्योंकि तत्त्व से यह बोध भी विशिष्ट स्थिति और वीर्य से विकल (रहित) है। इस बोध से भी प्रयोग काल में स्मृति की पटुता सिद्ध नहीं होती है। स्मृति के अभाव में प्रयोग की विकलता होती है। प्रयोग की विकलता से उस प्रकार का कार्य नहीं होता।
③ बला दृष्टि - इस दृष्टि में बोध काष्ठाग्नि के कण समान होता है। यह बोध पूर्वोक्त दोनों बोध से कुछ विशिष्ट होता है इसलिए इस बोध की स्थिति और वीर्य कुछ ज्यादा होता है। इस कारण से प्रयोग के काल में यहाँ पटुप्राय स्मृति होती है। (पटु नहीं) उस स्मृति के होते हुए अर्थ (मोक्ष की प्रयोजन भूत) प्रयोग (धर्म क्रिया) की प्रीति से भावक्रिया का कुछ यत्न होता है।

DATE __/__/____

④ दीप्रा दृष्टि - इस दृष्टि में यह बोध दीपक की प्रभा जैसा स्थिर होता है, तथा पूर्वोक्त तीनों बोध से विशिष्टतर होता है। इस कारण से स्थिति और वीर्य भी उदग्र अर्थात् तीव्र होता है तथा इससे प्रयोगकाल में स्मृति भी पटु होती, स्मृति पटु होने के कारण क्रिया भी भाव से होती है। किन्तु यहाँ पर भाव क्रिया को भी सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा से द्रव्य क्रिया कही है; क्योंकि वंदनादि क्रिया में जैसे भाव सम्यग्दृष्टि वाले जीव को होते हैं, वैसे इस दीप्रा दृष्टि वाले जीव को नहीं होते। सम्यग्दृष्टि जीव का जितना यत्न है, उतना यत्न इस जीव को नहीं होता, इसलिए यहाँ यत्नभेद है। तथा इस प्रकार की उस भक्ति से इस जीव की प्रवृत्ति यत्नभेद से होती है। यत्नभेद से प्रवृत्ति होने के कारण यह द्रव्यप्रयोग कहलाता है।

प्रथम गुणस्थानक का प्रकर्ष इतना है अर्थात् यह दृष्टि प्रथम गुणस्थानक का प्रकर्ष है, इस प्रकार शास्त्रकार कहते हैं।

⑤ स्थिरा दृष्टि - यह दृष्टि भिन्नग्रंथि वाले जीवों को अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवों को ही होती है। इस दृष्टि में बोध रत्न की प्रभा समान है इसलिए (तद्=ततः) भाव से अपतिपाती है, प्रवर्धमान है, निरपाय है, दूसरे को परिताप करने वाला नहीं है, परितोष का हेतु है तथा प्रायः प्रणिधानादि आशयों का उत्पत्ति स्थान है।

(i) अपतिपाती - जैसे दीप तृण-गोमय-काष्ठाग्नि अथवा दीपक की प्रभा थोड़ी देर में नाश पामती है किंतु रत्न की प्रभा कभी नष्ट नहीं होती, वह सदा स्थिर रहती है, वैसे ही इस दृष्टि का बोध कभी नष्ट नहीं होता। [विशेष इतना कि तृण-गोमय-काष्ठाग्नि स्वभावतः नष्ट होते हैं किंतु दीपक की प्रभा वायु आदि विघ्नों के कारण नष्ट होती है।]

(ii) प्रवर्धमान - प्रथम चार दृष्टि में जीव के परिणाम नीचे गिरते हैं किन्तु इस दृष्टि में बोध के साथ-साथ परिणाम भी बढ़ते रहते हैं।

(iii) निरपाय - दीपक की प्रभा अस्थिर होने के साथ-साथ तेल-वत्ती आदि पर निर्भर होने के कारण कभी भी बुझ सकती है किंतु रत्न की प्रभा स्वतंत्र

DATE ___/___/___

होने के कारण कभी क्षीण नहीं होती वैसे ही स्थिरा दृष्टि भी क्षीण नहीं होती। यह जीव सांसारिक वृत्ति करता है तो भी वह अनर्थ का कारण नहीं है।

(iv) न अपरपरितापकृत्- दीपक की प्रभा उष्ण होने से दूसरे को दाह-ताप आदि करती है किंतु रत्न प्रभा शीतल होने से किसी को दाह आदि नहीं करती वैसे ही स्थिरा दृष्टि वाले जीव दूसरे जीवों के लिए उपकारक होते हैं, परिताप करने वाले नहीं होते।

(v) परितोषहेतु-रत्न की प्रभा देखकर आनंद होता है, वैसे ही इस दृष्टि में जीव को आत्मस्वरूप की अनुभूति होने से वह आनंदितहोता है, वह पुद्गल की तरफ आकर्षित नहीं होता। अथवा वह जीव दूसरों के लिए संतोष का कारण होता है।

(vi) प्रणिधानादि योनि - प्रणिधानादि में आदि शब्द से प्रवृत्ति, विघ्न पराजय, सिद्धि, विनियोग आदि लेना है। यह जीव गुणों के प्राप्त करने के लिए दृढ़ पुरुषार्थ करता है। वह पुरुषार्थ है प्रणिधानादि आशय। स्थिरा दृष्टि का बोध जीव को प्रबल पुरुषार्थ करवाता है, इसलिए वह प्रणिधानादि का जन्मस्थान है। किंतु यह जीव संसार से पूर्णतया निर्लेप नहीं है अतः कभी-कभी वह यह पुरुषार्थ छोड़ भी देता है। इसलिए टीका में प्रायः शब्द लिखा है।

(5) कांता दृष्टि - इस दृष्टि का बोध तारे की प्रभा समान है। रत्न का प्रकाश थोड़ी दूर तक ही जाता है किंतु तारे का प्रकाश तो बहुत दूर तक जाता है। कांता अर्थात् पतिव्रता स्त्री। जैसे पतिव्रता स्त्री कुछ भी कार्य करे किंतु उसका ध्यान पति में होता है वैसे ही इस दृष्टि वाले जीव शुद्ध उपयोग को अनुसरने वाले होते हैं, अर्थात् आत्मानुभूति में ही उनका उपयोग रहता है। यह बोध भी स्वभाव से ही स्थिर होता है। इस दृष्टि का अनुष्ठान निम्न लक्षण वाला होता है।

(i) निरतिचार- यहाँ अनुष्ठान स्वभाव से ही अतिचार रहित होता है

(ii) शुद्धोपयोगानुसारि- यहाँ जीव को वस्तु की दुर्लभता समझ में आती है इसलिए वह सहज उसमें एकचित्त हो जाता है, अल्प मात्र भी बाह्य भाव नहीं है।

DATE __/__/____

(iii) विशिष्टाप्रमादसचिव- अत्यन्त ही अप्रमाददशा वाली धर्मआराधना।

(iv) ~~विनियोग प्रधान- स्वयं को प्राप्त हुई दुर्लभ ऐसी धर्मसिद्धना दूसरे जीवों को भी समझाते हैं, अतः प्रणिधानादि आशयों में से~~

(iv) विनियोग प्रधान गम्भीरोदाराशय- विनियोग प्रधान है जिसमें ऐसे गंभीर और उदार आशय वाला अनुष्ठान। ~~अर्थात्~~ ★ विनियोग [स्वयं को प्राप्त दुर्लभ जैन धर्म को योग्य व्यक्तियों तक पहुँचाना] ~~प्रधान~~ ★ गंभीर [स्वयं की उच्च कोटि की आराधना होने पर भी किसी को कहते नहीं अथवा प्रशंसा की अपेक्षा नहीं रखते] ★ उदार [अन्य के दोषों की उपेक्षा तथा स्वयं के परिश्रम की चिंता किए बिना प्रवृत्ति करना]

प्रणिधानादि आदि पाँच आशयों में से विनियोग मुख्य है जिसमें, इस प्रकार के गंभीर और उदार आशय वाला अनुष्ठान इस दृष्टि में होता है।

(9) प्रभा दृष्टि- इस दृष्टि में बोध सूर्य की प्रभा जैसा होता है अर्थात् सूर्य के प्रकाश लगभग सभी पदार्थ स्पष्ट दिखते हैं वैसे ही इस दृष्टि में योग मार्ग स्पष्ट हो जाता है। यह बोध हमेशा ध्यान का हेतु ही बनता है। अर्थात् इस दृष्टि में जीव ध्यानमग्न होता है। उसे जीव को यहाँ पर प्रायः संकल्प-विकल्प का अवसर नहीं आता है अर्थात् मोहनीय कर्म जन्य राग-द्वेष के परिणाम नहीं होते। इस दृष्टि में जीव को प्रशम है सार जिसका ऐसा सुख होता है अर्थात् यहाँ पर शारीरिक सुख नहीं होता, आत्मा का स्वाभाविक वीतरागता का सुख होता है। इस दृष्टि के योगियों को शास्त्र अकिंचित्कर बन जाते हैं अर्थात् स्वयं के वैराग्य को टिकाने के लिए उन्हें शास्त्रों का आलंबन नहीं लेना पड़ता। उनके सभी अनुष्ठान समाधिनिष्ठ होते हैं अर्थात् आकुल-व्याकुलता रहित होते हैं। ऐसे जीव की आत्मा से इतने शुभ परमाणु निकलते हैं कि उनके आस-पास के वातावरण में रहे जीवों के वैरादि का भी नाश हो जाता है। इन परोपकार-पर अनुग्रह का कर्तृत्व भी होता है। ये जीव शिष्यों के प्रति औचित्य योग से पसार होते हैं। इनकी सभी सत्क्रिया अवन्ध्य होती है अर्थात् मोक्ष के प्रति साक्षात् कारणभूत है।

DATE ___/___/_____

(R) परा दृष्टि- परा अर्थात् उत्कृष्ट, सर्वोत्तम, इस दृष्टि के आगे कोई दृष्टि नहीं है। यहाँ पर बोध चंद्र की चाँदनी जैसा होता है, सूर्य का ताप भले ही हमें अधिक लगता हो, किंतु चंद्र की चाँदनी जैसा वह हमारे नेत्रों को रुचता नहीं है तथा सूर्य और चंद्र में चंद्र का पुण्योदय ज्यादा होता है इसलिए यहाँ पर बोध चंद्र प्रभा जैसा होता है। यह बोध भी सद्ध्यान रूप ही होता है तथा मन सर्वथा विकल्प रहित होता है। विकल्पों के अभाव में जीव को उत्तम सुख होता है। यहाँ पर विकल्पों के अभाव से प्रतिक्रमण आदि शुभ अनुष्ठान उनको नहीं होते, जैसे पर्वत पर चढ़े हुए को उतरने में ज्यादा परिश्रम नहीं होता वैसे ही इन जीवों को निर्जरा के लिए अनुष्ठानों का आलंबन नहीं लेना पड़ता है, ध्यान से ही उनकी निर्जरा होती है। स्वयं के भव्यत्व [तीर्थंकर नामकर्म आदि कि की स्थिति] के अनुरूप यहाँ पर परोपकारित्व होता है। अवन्ध्य क्रिया पूर्व की प्रभा दृष्टि जैसी ही होती है।

इस प्रकार सद्दृष्टि वाले योगी की दृष्टि सामान्य से आठ प्रकार की है।

* प्रश्नः सद्दृष्टिपन तो ग्रंथिभेद होने पर आता है और ग्रंथिभेद तो दीर्घ काल के बाद होता है अथवा दीप्रा दृष्टि के बाद होता है। तो फिर सद्दृष्टि आठ प्रकार की क्यों कही?

उत्तरः मित्रादि चार दृष्टियों का सद्दृष्टि की प्राप्ति में अवन्ध्य कारणत्व होने से वे भी सद् दृष्टि हैं। च्यु. वर्षोल्पक की प्राप्ति में इक्षु, रस, कक्कव, और गुड समान प्रथम चार दृष्टि हैं तथा खण्ड, शक्कर, मत्स्यण्डी और वर्षोल्पक समान शेष चार दृष्टि हैं। जैसे इक्षु आदि ही उस-उस प्रकार बदलता है, वैसे ही दृष्टि भी बदलती है। ये मित्रादि चार दृष्टि रुचि, प्रीति आदि विषयवाली हैं। ये रुचि आदि विषयों अथवा दृष्टियों की संवेग रूपी मधुरता की प्राप्ति इक्षु समान है अर्थात् जैसे इक्षु आदि में क्रमशः मधुरता बढ़ती है, वैसे ही यहाँ संवेग बढ़ता है। अभव्य जीव तो नव विगेरे मधुरता रहित घास की तरह संवेग रूपी माधुर्य शून्य होते हैं।

DATE __/__/____

* इस प्ररूपण द्वारा आत्मा को सर्वथा अपरिणामी (नित्य) और अनित्य (क्षणिक) मानने वाले वाद में दृष्टिभेद का अभाव कहा, दृष्टि की उस प्रकार परिवर्तित होने की प्राप्ति नहीं होने से। अतः अनेकान्तवाद ही सर्वथा सत्य है।

यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः
अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता ॥16॥

- यमादि योगों से युक्त की, खेदादि के परिहार से अद्वेषादि गुण के स्थान रूप, ये आठ दृष्टि सज्जनों को (पतंजलि आदि ऋषियों) क्रम से मान्य है।

* यमादि - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ योग के अंग हैं। (पातंजल्य योगदर्शन)

(i) यम - यावज्जीव का व्रत, वह यम। पाँच महाव्रत अथवा अणुव्रत।

(ii) नियम - पाँच यम की पुष्टिकरने वाला तथा परिमित काल वाला। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, प्रभु भक्ति-ध्यान।

(iii) आसन - स्थिरता पूर्वक बैठना। दो भेद - द्रव्य, भाव। द्रव्य से काया की चंचलता रोकना तथा भाव से बाह्य भाव की चंचलता रोककर आत्मभाव में स्थि

(iv) प्राणायाम - तीन प्रकार रेचक, पूरक, कुंभक। तीनों के दो प्रकार - द्रव्य, भाव।
(a) रेचक - द्रव्य से शारीरिक प्रक्रिया जिसमें गैस आदि दूर किए जाते हैं। भाव से आत्मा में से बाह्य भाव बाहर निकालना।
(b) पूरक - द्रव्य से शरीर के योग्य वायु अंदर लेना, भाव से आत्म को शुभ परिणाम से भरना।
(c) कुंभक - शरीर की धातु यथायोग्य स्थिर हो, यह द्रव्य तथा भाव से आत्मस्वभाव में स्थिरता।

(v) प्रत्याहार - त्याग। इंद्रियों द्वारा के विषय-विकार का त्याग।

(vi) धारणा - तत्त्वचिंतन में चित्त को पकड़कर रखना।

(vii) ध्यान - मन की एकाग्रता अथवा विचारों का निरोध (एकाग्रचिन्ता निरोध

(viii) समाधि - आत्मा का संपूर्ण स्वरूप प्रगट होना, निर्विकल्प दशा, ध्याता-ध्यान

DATE __/__/____

और ध्येय का एकरूपत्व।

* कारण में कार्य का उपचार करके यहाँ पर योगांग को योग कहा है।
* इस प्रकार यमादि से युक्त योगी की दृष्टि क्रमशः आठ प्रकार की है क्योंकि प्रत्येक योग के अंग में दृष्टि का भेद है।
* इसी प्रकार खेदादि अर्थात् यमादि के प्रत्यनीक आशय के परिहार से भी यह दृष्टि आठ प्रकार की है।
* खेदादि - खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, राग, आसंग। ये आठ चित्त के दोष हैं (षोडशक)।

i) खेद - धर्म प्रवृत्ति करते-करते थक जाना।
ii) उद्वेग - धर्म में कंटाणा आए, 'कब खत्म हो' ऐसा भाव आए।
iii) क्षेप - चालू क्रिया में से उपयोग छोड़कर मन को दूसरे कार्य में जोड़ना।
iv) उत्थान - क्रिया से मन का उठ जाना, ऊब जाना। क्रिया अधूरी छोड़ने का भाव आना, भले लोकलाज से वह क्रिया चलती रहे।
v) भ्रान्ति - अनुपयोग के कारण तत्त्व को अतत्त्व मानना अथवा 'क्रिया मैंने की या नहीं की' ऐसा भ्रम।
vi) अन्यमुद् - क्रिया करते-करते मन अन्य कार्य में रत हो तथा उसमें हर्ष मानना।
vii) रुग् (राग) - रुग् यानि रोग। मन का अन्य क्रिया में हर्षित होना, यही योगमार्ग में रोग है। अथवा राग यानि आसक्ति और जहाँ राग, वहाँ द्वेष और मोह तो आ ही होते हैं।
viii) आसंग - आसक्ति।

* इसी प्रकार अद्वेषादि गुण भी आठ हैं, जो एक-एक दृष्टि में प्राप्त होते हैं।
* अद्वेषादि - अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति (षोडशक)

i) अद्वेष - अरुचि का अभाव।
ii) जिज्ञासा - तत्त्व जानने की इच्छा।
iii) शुश्रूषा - तत्त्व सुनने की इच्छा।

DATE ___/___/___

(iv) श्रवण- सुगुरु के पास तत्त्व एकाग्रता से सुनना।
(v) बोध- श्रवण से तत्त्वज्ञान होना।
(vi) मीमांसा- सूक्ष्म विचारण करके सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करना।
(vii) प्रतिपत्ति- हेय को हेयरूप और उपादेय को उपादेयरूप स्वीकारना।
(viii) प्रवृत्ति- उपादेय मार्ग में प्रवृत्ति।

* इस प्रकार यमादि 8 योगांग पतंजलि ऋषि को, खेदादि 8 दोष भदन्तभास्कर बंधु को तथा अद्वेषादि 8 गुण दत्तादि ऋषियों को मान्य है।

सच्छ्रद्धासङ्गतो बोधो दृष्टिरित्यभिधीयते।
असत्प्रवृत्तिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावहः ॥17॥

- सत् श्रद्धा से युक्त बोध, दृष्टि कहलाता है। असत्प्रवृत्ति को अटकाने से वह बोध सत्प्रवृत्ति के पद को वहन करने वाला है।

* सत् श्रद्धा - इस पद से असत् श्रद्धा का व्यवच्छेद कहा है। शास्त्र के वाक्य तथा स्वयं के अभिप्राय से उस प्रकार के असत् तर्क वाली श्रद्धा (मान्यता), असत् श्रद्धा कहलाती है। ऐसी असत् श्रद्धा की विकलता से सत् श्रद्धा के संग वाला बोध।

* निष्पत्त्यपायता के द्वारा फल से दृष्टि को कहते हैं अर्थात् असत् प्रवृत्ति के व्याघात से दृष्टि में निष्पत्त्यपायत्ता है, वह अनर्थकारी है नहीं है। उस प्रकार की श्रद्धा से युक्त होने के कारण शास्त्र से विरुद्ध प्रवृत्ति का व्याघात, इन दृष्टि से होता है।
इस दृष्टि का फल यह है कि वह सत्प्रवृत्ति के पद को लाने वाली है अर्थात् अवेद्यसंवेद्यपद के त्याग से वेद्यसंवेद्यपद को प्राप्त कराने वाली है।

* वेद्य- जानने योग्य संवेद्य- संवेदन, अनुभव
जानने योग्य (वेद्य) पदार्थों का अनुभव (संवेद्य) है जिसमें ऐसा पद, वेद्यसंवेद्यपद = सम्यग्दर्शन।

DATE ___/___/___

* प्रश्नः यदि ये दृष्टि वेद्यसंवेद्यपद प्राप्त करने वाली है, तो यह लक्षण स्थिरादि चार दृष्टि में कैसे घटेगा, क्योंकि वे चार दृष्टि तो स्वयं वेद्यसंवेद्यपद रूप है?

उत्तरः ये स्थिरादि दृष्टियों का वेद्यसंवेद्यपद स्वरूप होने पर भी (अस्य) वेद्यसंवेद्यपदप्रापक का सामान्य लक्षण पन होने के कारण (एवं) वेद्यसंवेद्य पद प्रापक कहने में अदोष है अर्थात् कोई दोष नहीं है। भावार्थ यह है कि 'वेद्यसंवेद्यपदप्रापक' यह सभी दृष्टियों का सामान्य लक्षण है। अर्थात् सभी दृष्टि आगे-आगे की दृष्टि के लिए प्रापक का रूप भजेगी।

अथवा (दूसरे प्रकार से कहते हैं)

सत्प्रवृत्तिपद परमार्थ से शैलेशी अवस्था है, सभी दृष्टियों का (च्) शैलेशी पद को वहन करने के द्वारा इस कथन में कोई दोष नहीं है।

इयं चावरणापायभेदादष्टविधा स्मृता
सामान्येन विशेषास्तु भूयांसः सूक्ष्मभेदतः ॥18॥

- यह योगदृष्टि आवरण के अपाय के भेद के कारण सामान्य से आठ भेद वाली है, किंतु सूक्ष्म भेद से तो दृष्टि के बहुत भेद हैं।

आवरण का अपाय - कर्मों के आवरण का नाश = क्षयोपशम।
सामान्य - सूक्ष्म दृष्टि का अनादर कर अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि से देखने को छोड़कर = स्थूल नीरनीति से।
सूक्ष्मभेद - दर्शनादि के परस्पर अनंतभेद होने के कारण। षट्स्थानपतित के कथन से अनंतभेद जानना।

प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथा।
सापाया अपि चैतास्ताः प्रतिपातेन नेतराः ॥19॥

- प्रथम चार दृष्टि प्रतिपात से युक्त है, बाद की चार दृष्टि उस प्रकार की (प्रतिपात वाली) नहीं है। ये (प्रथम चार दृष्टि) ही अपाय सहित है, बाद प्रतिपात के कारण

DATE __/__/____

वाली नहीं है।

* प्रथम चार दृष्टि प्रतिपात से युक्त हैं। प्रतिपात अर्थात् भ्रंश, नीचे गिरना। प्रथम चार दृष्टि नीचे गिरने वाली भी है। यहाँ 'भी' (अपि) इसलिए लिखा है क्योंकि यहाँ (एव) जकार नहीं लेना है। अर्थात् नीचे गिरे ही, ऐसा जरूरी नहीं है किंतु नीचे गिर भी सकती है।

प्र. प्रथम चार दृष्टि नीचे गिरे ऐसा जरूरी क्यों नहीं है? उ. क्योंकि इन चार दृष्टियों से ही इनके पीछे की दृष्टि होती है (तद्= प्रथम चार दृष्टि) अर्थात् पीछे की चार दृष्टि प्रथम चार दृष्टि के बाद ही होती है।

* स्थिरादि दृष्टि प्रतिपात से युक्त नहीं है अर्थात् स्थिरादि दृष्टि एक बार आने के बाद जाती नहीं है। सामान्य से तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव नीचे गिर भी सकता है किंतु यहाँ पर क्षायिक सम्यक्त्वी जीव को ग्रहण करना है क्योंकि आगे 7वीं गाथा में ग्रंथकार भ. ने लिखा है कि क्षायिक सम्यक्त्व ही नैश्चयिक सम्यक्त्व है।

* जिस कारण से प्रथम चार दृष्टि प्रतिपात से युक्त है (क्षायोपशमिक भाव के कारण) उस ही कारण से वही अपाय सहित भी है। क्योंकि दुर्गति का हेतुत्व होने के कारण।

* प्रश्नः श्रेणिकादि क्षायिक सम्यक्त्वी को प्रतिपात तो नहीं हुआ, किंतु अपाय क्यों हुआ?

उत्तरः इस क्षायिक सम्यक्त्व के अभाव में उपार्जित कर्म के सामर्थ्य से। इसी कारण से स्थिरादि चार दृष्टि को अपाय रहित कहा है। अप्रतिपात होने के कारण संभव मात्र का आश्रय करके अर्थात् पूर्वोपार्जित कर्म के कारण अपेक्षा से सापाय भी है। प्र. यदि अपेक्षा से सापाय भी है तो सूत्र में अपाय रहित क्यों कहा? उ. क्योंकि सूत्र तो प्रायः वृत्ति के विषय वाला होने के कारण, ऐसा कहा है।

* अथवा दूसरे प्रकार से कहते हैं कि

DATE __/__/____

सद्दृष्टि का पात नहीं होने पर अपाय भी अनपाय ही है क्योंकि कायदुःख होने पर भी उसके (सद्दृष्टि वाले योगी के) आशय की विक्रिया की अनुपपत्ति है अर्थात् जैसे वज्र के चावल को कितना भी पकाओ, वह विक्रिया नहीं पाता है, वैसे इस योगी को कितना भी काय दुःख हो उसका आशय विक्रिया नहीं पाता है।

प्रयाणभङ्गाभावेन निशि स्वापसमः पुनः
विघातो दिव्यभवतश्चरणस्योपजायते ॥20॥

- देवभव से चरण का विघात प्रयाण के भंग के अभाव के कारण रात्रि में निद्रातुल्य है।

* प्रयाणभंग अभाव - ~~यदि किसी~~ कोई कन्यकुब्जादि नगर के गमन में अनवरत प्रयाण के गमन से प्रयाण के भंग का अभाव होता है अर्थात् कोई कन्यकुब्जादि नगर जाने के लिए निकलता है और बीच में विश्राम लेता है, तो वह विश्राम प्रयाण का भंग नहीं है।

* इस प्रकार प्रयाण के भंग का अभाव होने के कारण रात्रि में निद्रा के समान, यह चरण का विघात है, जो विघात देव भव के कारण होता है।

* यह विघात क्यों होता है? उ. उस प्रकार के औदयिक भाव के कारण अर्थात् देवभव में औदयिक भाव के कारण अविरतित्व होता है।

* उस औदयिक भाव का अभाव होने पर अर्थात् देव भव पूर्ण होने पर वह जीव चारित्र में ही प्रवृत्ति करता है जैसे निद्रा का विगमन होने पर अनवरत प्रयाण में प्रवृत्त, कन्यकुब्जादि जाने वाला गमन प्रवृत्ति करता है।

* Summary: गाथा 19 में पूर्वपक्ष ने प्रश्न पूछा था कि स्थिरादि चार दृष्टि में प्रतिपात कैसे नहीं है अर्थात् कि इन चार दृष्टि वाला जीव मृत्यु प्राप्तकर देव भव में जाता है, वहाँ तो उसके चारित्र को विघात पहुँचता है क्योंकि

DATE __/__/____

वहाँ तो चारित्र होता नहीं है। अतः इस चारित्र विघात के कारण जीव का प्रतिपात क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का उत्तर ग्रंथकार इस गाथा में देते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति कन्यकुब्जादि नगर जाने के लिए घर से निकलता है। फिर रात्रि में एक जगह विश्राम लेता है और सुबह होने पर पुनः वह प्रयाण शुरु करता है। इस रात्रिविश्राम के कारण उसके प्रयाण का यानि यात्रा का भंग नहीं होता है बल्कि विश्राम लेकर वह जल्दी, स्फूर्ति से चलता है। ऐसे जीव का देवभव में जो चारित्र विघात होता है, वह रात्रिविश्राम तुल्य है। अर्थात् जैसे यात्री विश्राम के बाद जल्दी चलता है वैसे ही जीव औदयिक भावों को देव भव में भोगकर, फिर से मनुष्य भव बनकर जल्दी मोक्ष में जाता है।

मित्रा दृष्टि

मित्रायां दर्शनं मन्दं यम इच्छादिकस्तथा
अखेदो देवकार्यादावद्वेषश्चापरत्र तु ॥21॥

- मित्रा दृष्टि में दर्शन मंद होता है, इच्छादिक यम, देवकार्य आदि में अखेद तथा अपरत्र (देवकार्यादि में नहीं वर्त्तन करने वाले जीव पर) अद्वेष होता है।

* मित्रा दृष्टि में मंद दर्शन अर्थात् अल्प बोध होता है, तृणाग्निकणसमान।
* यम - पाँच अणुव्रत अथवा महाव्रत। ये इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य, सिद्धि के भेद वाले हैं। इच्छादि का स्वरूप ग्रंथकार ग्रं 215-218 श्लोक में बताएँगे। यहाँ व्याख्या के लिए ज्ञानसार के योगाष्टक का श्लोक ५ ले सकते हैं:-
'इच्छा तद्वद् कथाप्रीतिः, प्रवृत्तिः पालनं परा। स्थैर्यं बाधकभीहानिः, सिद्धिरन्यार्थसाधनं (27-
* अखेद - इस दृष्टि में खेद दोष का त्याग होता है।
देवकार्य आदि में आदि शब्द गुरु के कार्य आदि का परिग्रह है।
देवकार्यादि उस-उस प्रकार के प्राप्त होने पर, वह परितोष से अर्थात् खुश

DATE ___/___/___

होकर वह कार्य करता है, खेद नहीं करता है, प्रवृत्ति करता है। जैसे शिर भारी होना आदि दोष होने पर भी भवाभिनंदी जीव भोग कार्य में प्रवृत्ति करता है वैसे।

अद्वेष- इस दृष्टि में यह गुण प्रगट होता है।
इस दृष्टि वाले जीवों को अदेवकार्यादि में अथवा अदेवकार्य करने वाले जीवों पर द्वेष और मत्सर नहीं है। यद्यपि मात्सर्य रूपी वीर्य का बीज होने पर भी तत्त्व को जानने से द्वेष भाव के अंकुर का भी उदय नहीं होता है, द्वेष भाव के अनुदय से जीव का आशय तत्त्वानुष्ठान का आश्रय करके कर्म में अर्थात् स्वयं के कार्य में होता है। इस कारण इस जीव को अदेवकार्यादि में चिंता नहीं होती है, चिंता होने पर भी करुणा के अंश रूप बीज की ही थोड़ी स्फुरणा होती है।

इस दृष्टि में रहा योगी जो साधता है, वह कहने की इच्छा से कहते हैं-

करोति योगबीजानामुपादानमिह स्थितः
अवन्ध्यमोक्षहेतूनामिति योगविदो विदुः ॥22॥

- इस दृष्टि में रहा जीव मोक्ष अवन्ध्य कारण ऐसे योग बीजों का ग्रहण करता है, इस प्रकार योगाचार्य कहते हैं।

तत्त्वकरण- 'यही तत्त्व है, यही परमार्थ है' इस प्रकार की बुद्धि करने पूर्वक।
अवन्ध्यमोक्षहेतु- योग बीज योग रूपी फल नहीं देता, ऐसा नहीं है अर्थात् देता है। भावार्थ यह है कि योग बीज का फल, यह है योग रूपी वृक्ष और योग रूप वृक्ष का फल, मोक्ष है। इस प्रकार परंपरा से योगबीज अवन्ध्य हेतु हैं।

योग बीजों की स्थापना करते हुए कहते हैं-

जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च
प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तमम् ॥23॥

- जिन के विषय में कुशल चित्त, उनको नमस्कार और संशुद्ध प्रणामादि

DATE ___/___/___

अनुत्तम योगबीज हैं।

★ कुशल चित्त - जिनों के विषय में द्वेषादि के अभाव से प्रीति आदि वाला चित्त होना। इस पद के द्वारा मनोयोग की वृत्ति कही।

★ तन्नमस्कार - इस प्रकार कुशल चित्त से प्रेरित वचनोच्चार पूर्वक जिन को नमस्कार करना। इस पद द्वारा वाक् योग की वृत्ति कही।

★ पणामादि - पंचांग प्रणिपात आदि। आदि शब्द से मंडल्यादि का ग्रहण करना है।

★ संशुद्ध - इस पद द्वारा असंशुद्ध का व्यवच्छेद किया; क्योंकि असंशुद्ध प्रणाम योगबीज नहीं हैं। (★ पणामादि से काय योग की वृत्ति कही।)

सामान्य से असंशुद्ध का यथाप्रवृत्तिकरण भेद होने के कारण यहाँ असंशु का व्यवच्छेद है; अर्थात् यथाप्रवृत्तकरण में (सामान्य से अर्थात् चरम और अचरम दोनों यथाप्रवृत्तकरण) जीव ने असंशुद्ध प्रणाम अनंत बार किए हैं, इस कारण असंशुद्ध यथाप्रवृत्तकरण का भेद है। और (तस्य= यथाप्रवृत्त करण भेद) ऐसे यथाप्रवृत्तकरण के भेद की योगबीजत्व की प्राप्ति नहीं होने से यहाँ असंशुद्ध का व्यवच्छेद है। अर्थात् यथाप्रवृत्तकरण भेद योगबीजत्व की अनुपपत्ति है, उससे जीव को योग वृक्ष का बीजत्व प्राप्त नहीं होता इसलिए असंशुद्ध का व्यवच्छेद है।

★ यह सभी सामस्त्य भाव और प्रत्येक भाव द्वारा योगबीज है अर्थात् मोक्ष के जोड़ने वाले अनुष्ठान का कारण है। अर्थात् यह सभी भाव जीव को साथ ही प्राप्त हो तो भी योगबीज है और तीन में से कोई एक भाव प्राप्त हो तो भी योगबीज है।

★ अनुत्तम - नास्ति उत्तमं यस्माद् तद् अनुत्तमम्। जिससे अधिक कोई उत्तम कोई भी नहीं हो वह अनुत्तम अर्थात् सभी में प्रधान।

प्र. ये योगबीज सभी बीजों में प्रधान क्यों हैं? उ. विषय की प्रधानता होने से अर्थात् इन योगबीजों का विषय जिन हैं (जिनेषु= वैषयिक सप्तमी)। तथा जिन बाकी आचार्यादि सभी विषयों में प्रधान हैं।

DATE / /

इन योगबीजों के काल को कहते हैं-

चरमे पुद्गलावर्ते तथाभव्यत्वपाकतः
संशुद्धमेतन्नियमान्नान्यदापीति तद्विदः ॥24॥

- चरम पुद्गलावर्त में तथाभव्यत्व के पाक से कुशलचित्त नियम से संशुद्ध है। अन्यदा (तथाभव्यत्व के पाक सिवाय चरम पुद्गलावर्त में भी) संशुद्ध नहीं है। इस प्रकार योग को जानने वाले कहते हैं।

चरम- चरम यानि अंतिम। यहाँ पर अंतिम शब्द के दो अर्थ संभव हैं -(i) अभी तक सभी जीव के जितने पुद्गलपरावर्त पसार हुए हैं, उनमें वर्तमान पुद्गलावर्त अंतिम है (ii) भव्य जीवों के मोक्ष में जाने के पहले का अंतिम पुद्गलावर्त। यहाँ पर दूसरे अर्थ का ग्रहण करना है।

पुद्गलावर्त- उस-उस प्रकार (अर्थात् औदारिक, वैक्रियादि वर्गणा के प्रकार) से उन पुद्गलों के ग्रहण और त्याग द्वारा जो आवर्त, वह पुद्गलपरावर्त।

तथाभव्यत्वपाक- चरमावर्त में भी योगबीज की प्राप्ति में तथाभव्यत्व का पाक मुख्य कारण है। क्योंकि तथाभव्यत्व के पाक से मिथ्यात्व की कटुता की निवृत्ति होने के कारण थोड़ी मधुर मधुरता प्राप्त होती है। उस मधुरता की प्राप्ति से जिनों में कुशल चित्त आदि नियमसे संशुद्ध होते हैं।

तथाभव्यत्व के पाक से नियम से ये योगबीज संशुद्ध कैसे होते हैं? उ. तथाभव्यत्व के पाक से उस प्रकार के कर्म द्वारा ये संशुद्ध होते हैं। इसे युक्ति से सिद्ध करते हैं कि अन्यदा अर्थात् तथाभव्यत्व का पाक न हो तब संशुद्ध चित्त की अनुपपत्ति है वैसे ही तथाभव्यत्व के पाक से असंशुद्ध चित्त की अनुपपत्ति है।

इसी कारण से अन्य काल में भी अर्थात् तथाभव्यत्व के पाक सिवाय अन्य काल में भी संशुद्ध योग बीज नहीं होते। क्यों? क्योंकि उसके पूर्व में क्लिष्ट आशय का योग होने से तथा बाद में विशुद्धतर आशय का योग होने से। इस प्रकार योग को जानने वाले कहते हैं।

DATE __/__/____

इस प्रकार संशुद्ध योगबीज का समय कहकर यह संशुद्ध चित्त कैसा होता है, वह कहते हैं -

॥उपादेयधियात्यन्तं संज्ञाविष्कम्भणान्वितम्
फलाभिसन्धिरहितं संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥25॥

- यह संशुद्ध चित्त अत्यन्त उपादेय बुद्धि के कारण संज्ञा के उदयाभाव से युक्त, सांसारिक फल की अपेक्षा रहित, मोक्ष रूप फल के पाक के आरम्भ समान है।

अत्यन्त उपादेय बुद्धि - 'मेरे लिए ये वीतराग ही उपादेय हैं' इस प्रकार की उपादेय बुद्धि। अत्यन्त - सभी प्रकार की अन्य चिंताओं के त्याग से यह बुद्धि अत्यन्त उपादेय होती है। प्र. यह उपादेय बुद्धि क्यों होती है? उ. यह उपादेय बुद्धि सम्यग्ज्ञान की पूर्व पर्याय है। सम्यग्ज्ञान के पूर्व की पर्याय होने से कर्म का उस प्रकार परिपाक होता है। कर्म के पाक के कारण यह उपादेय बुद्धि होती है।

संज्ञा विष्कम्भण अन्वित - क्षयोपशम की विचित्रता होने के कारण आहारा संज्ञा के उदयाभाव से युक्त यह संशुद्ध ऐसे चित्त होता है।

संज्ञा आहारादि के भेद से दस प्रकार की है।

संज्ञा से युक्त आशय वाला अनुष्ठान सुंदर होने पर भी अभ्युदय के लिए होता है अर्थात् पुण्यबंध के लिए होता है, मोक्ष प्राप्ति के लिए नहीं होता। प्र. मोक्ष प्राप्ति के लिए यह संज्ञा युक्त अनुष्ठ क्यों नहीं होता? उ. क्योंकि उसमें परिशुद्धि का अभाव होता है।

प्र. परिशुद्ध अनुष्ठान कैसा होता है? उ. भव के भोग से निःस्पृह आशय से उत्पन्न ऐसा यह परिशुद्ध अनुष्ठान है।

फलाभिसंधि रहित - यह संशुद्ध चित्त संसार के अन्तर्गत फल अर्थात् सांसारिक फल की अपेक्षा के अभाव से रहित है। प्र. यह फल की अपेक्षा रहित कैसे है? उ. क्योंकि संज्ञा के उदयाभाव में पूर्वकथित सांसारिक फल की अपेक्षा असंभव है। यह कथन सत्य है क्योंकि संज्ञा क

DATE ___/___/___

फल तो सांसारिक ही होता है तथा इस सांसारिक फल का आश्रय करके यह कथन सत्य है। यहाँ तो उस भव से अन्य (जीव जिस भव में है, उससे अन्य) भव में रहे तीर्थंकर तुल्यत्वादि लक्षण वाले फल ग्रहण किए जाते हैं, क्योंकि उन फलों की अपेक्षा असुंदर है। इन फल, अपेक्षा से युक्त ऐसे अनुष्ठान का स्वयं ही प्रतिबंध का सारत्व होने से, वह अनुष्ठान असुंदर होता है अर्थात् फल की अपेक्षा से युक्त अनुष्ठान स्वयं ही * मोक्ष फल में प्रतिबंध करने वाला है।
इस प्रकार फलाभिसंधि रहित यह अनुष्ठान/कुशल चित्त अपवर्ग (मोक्ष) का साधन है।

प्र. सांसारिक फलापेक्षा युक्त अनुष्ठान मोक्ष का कारण नहीं है किंतु (स्व) जीव जिस अनुष्ठान में है, उसकी अभिसंधि पूर्वक यदि अनुष्ठान करे तो वह मोक्ष का साधन है या नहीं? अर्थात् कोई ऐसा विचारे कि मुझे ऐसा बार-बार प्राप्त हो तो वह मोक्ष का साधन है या नहीं?

उ. स्वप्रतिबन्धसार वाला अनुष्ठान वहीं स्थिति को करने वाला है, उस अभिसंधि के उस प्रकार के स्वभाव के कारण। उदा. गौतमस्वामी का भगवान् प्रति बहुमान के जैसे। अर्थात् गौतमस्वामी को प्रभु पर बहुमान था किंतु वह गुणस्थानक की आसक्ति पूर्वक बहुमान था इसलिए उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ।

* इस प्रकार का संशुद्ध चित्त ही योग का निष्पादक है अर्थात् इन तीन विशेषण (उपादेय बुद्धि, संज्ञा के उदयाभाव से युक्त, फलाभि-संधि रहित) वाला संशुद्ध चित्त ही योग बीज है, अन्यथा योग की प्राप्ति नहीं हो सकती है, जैसे - शालि सिवाय के बीज से किसी भी काल में शालि के अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

* यह संशुद्ध कुशल चित्त अभिन्नग्रंथि वाले जीव को भी योगबीजग्रहण काल में ही फलाभिसंधिरहित और संज्ञाविष्कंभणान्वित (एवं) होता है। क्योंकि चरमयथाप्रवृत्तकरण के सामर्थ्य से उस प्रकार के क्षयोप-

DATE ___/___/_____

शम का सारत्व होता है अर्थात् चरम यथाप्रवृत्तकरण होने के कारण जीव के मोहनीय कर्म का क्षयोपशम बढ़ जाता है और मिथ्यात्व मंद होता है। प्र. यहाँ पर जीव को मिथ्यात्व के उदय में भी यह योगबीज संशुद्ध कैसे होता है? उ. ग्रंथकार भ. यहाँ पर उदाहरण देते हैं जैसे- अप्रमत्त यति को संज्वलन कषाय के कारण राग है किंतु अप्रमत्त होने से वे वीतरागभाव के समान कहलाते हैं, ऐसे ही मिथ्यात्व के उदय में भी क्षयोपशम के कारण मंद मिथ्यात्वी जीव के योगबी संशुद्ध होते हैं।

★ यह योगबीजचित्त अर्थात् योग के बीज रूप जो चित्त है, वह कैसा है? इसके विशेषण बताते हैं-

(i) भवसमुद्रनिमग्नस्य इषत् उन्मज्जन आभोगः - भवसमुद्र में डूबे हुए जीव को तैरने के लिए थोड़े प्रयत्न समान।

(ii) तत्सक्ति (शक्ति) अतिशय शैथिल्यकारी - जीव की आसक्ति अथवा संसार की शक्ति को अतिशय शिथिल करने वाला।

(iii) प्रकृतेः प्रथम विषियेज्ञा - [सांख्य दर्शन में दो पदार्थ-पुरुष और प्रकृति; जैन दर्शन में आत्मा और कर्म] जीव को अभी तक प्रकृति प्रिय लगती थी, किंतु अब वह पहली बार प्रकृति को विषिय, अप्रिय देखता है।

(iv) तदाकूतकारिणीमुज्जासम् - प्रकृति (तद्) के आशय को करने वाली ऐसी सांसारिक प्रवृत्ति का नाशक।

(v) आगम उपायन चेतः - आगम के अनुसार चित्त वाला।

(vi) तद् उचित चिंता समावेशकृत् - आगम के उचित ऐसी चिंता अर्थात् चिंतन का समावेश करने वाला।

(vii) ग्रंथिपर्वतपरमवज्र - ग्रंथि रूपी पर्वत के लिए परमवज्र समान।

(viii) नियमात्तद्भेदकारी - नियम से ग्रंथि का भेद करने वाला।

(ix) भवचारक पलायनकाल्यघंटा - भव रूप कैदखाने से पलायन के काल्य के

DATE ___/___/___

घंटनाद समान।

(x) तदपसारकारिणी- यह कालघंटा का विशेषण है। वह घंटनाद संसार का अपसार करने वाला है।

* इस प्रकार यह जिन कुशल चित्तादि संशुद्ध योगबीज इस प्रकार (ईदृश) अर्थात् फलाभिसंधिरहित और संज्ञा विष्कम्भणान्वित है। और ये योगबीज (एतत्) उस प्रकार के कालादि होने से स्वभावतः मोक्ष रूपी फल के पाक के प्रारंभ समान है।

अन्य योगबीज कहते हैं-

आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु
वैयावृत्त्यं च विधिवच्छुद्धाशयविशेषतः ॥26॥

- भावयोगी ऐसे आचार्यादि में भी विशुद्ध कुशलचित्तादि और शुद्धाशय-विशेष से विधिवत् वैयावृत्त्य योगबीज है।

* आचार्यादिषु अपि- आचार्य उपाध्याय, तपस्वी, शैक्षक आदि
* एतद्- कुशलचित्त आदि पूर्वकथित योगबीज
विशुद्ध- संशुद्ध (श्लोक 25 में दर्शित संशुद्ध)
भावयोगी- भाव आचार्यादि में ही कुशलचित्त योगबीज है, द्रव्याचार्य आदि संबंधी नहीं। द्रव्याचार्य आदि कैसे होते हैं? उ. अधर्म से उत्पन्न लक्षण वाले द्रव्य आचार्यादि होते हैं।
प्र. द्रव्याचार्य आदि में कुशल चित्तादि योगबीज क्यों नहीं है? उ. क्योंकि कपट रूप में निष्कपट बुद्धि रखना, यह सुंदर नहीं है अर्थात् विपरीत प्रवृत्ति करने वाले आचार्य को भावाचार्य समझना, यह मिथ्याबुद्धि है, और मिथ्याबुद्धि कर्मबंध का कारण है।
वैयावृत्त्य- आहारादि द्वारा सेवा के भाव के लक्षण
* विधिवत्- पुरुषादि की अपेक्षा से सूत्रोक्त विधि प्रमाणे
पुरुषादि की अपेक्षा (उपदेशपद की गाथा)- उस पुरुष को, उनके उपकार

DATE ___/___/_____

और अपकार को तथा स्वयं के उपकार और अपकार को जानकर 'सर्वज्ञ की यह आज्ञा है' इस प्रकार आज्ञा को धारण कर आशंसारहि ऐसा निरांशंस वेयावच्च करे।

* शुद्धाशयविशेष- शुद्ध चित्त प्रबंध के विशेष से अर्थात् आशंसा रहित चित्त से। शुद्ध चित्त प्रबंध उस प्रकार काल (चरमावर्त) आदि के भाव से कह दिया गया है।

अन्य योगबीज कहते हैं-

भवोद्वेगश्च सहजो द्रव्याभिग्रहपालनम्
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य विधिना लेखनादि च ॥२७॥

- सहज भवोद्वेग, द्रव्य अभिग्रह पालन और सिद्धान्त का आश्रय करके विधि पूर्वक लेखन आदि योगबीज है।

* भवोद्वेग- संसार के (अस्य) जन्म आदि रूपत्व के कारण संसार से उद्वेग।

* सहज- भवोद्वेग सहज होता है अर्थात इष्टवियोगादि निमित्तों से नही होता। क्योंकि इष्टवियोगादि तो आर्तध्यान रूप है। कहा भी है कि- उत्पन्न दुःख से होने वाला निर्वेद वह द्वेष है, वैराग्य नहीं।

* द्रव्य अभिग्रह पालन- यह जीव द्रव्य अभिग्रह का पालन करता है। यहाँ द्रव्य अभिग्रह का अर्थ औषधादि के दान का आश्रय करके है अर्थात् 'किसी सुपात्र अथवा साधर्मिक को दान के बाद ही मैं भोजन करूँ' इस प्रकार का अभिग्रह पालन वह करता है। विशिष्ट क्षयोपशम में से होने वाले ऐसे भाव अभिग्रह का अभिन्नग्रंथि जीवों को असंभव होने से यहाँ द्रव्य अभिग्रह का ग्रहण है अर्थात् भाव अभिग्रह तो विशिष्ट क्षयोपशम के कारण होता है और विशिष्ट क्षयोपशम जिन जीवों का ग्रंथि भेद हुआ हो उन्हें होता है इसलिए यहाँ इस दृष्टि में द्रव्य अभिग्रह का ग्रहण है।

DATE __/__/____

* सिद्धान्तं आश्रित्य - ऋषियों संबंधी सिद्धान्त का आश्रय कर, कामादि शास्त्रों को नहीं।
* विधि - न्यायोपार्जितधन के सदुपयोग आदि लक्षण वाली विधि से।
* लेखनादि - शास्त्र लेखन आदि योगबीज हैं।

लेखनादि में आदि शब्द के अर्थ का विस्तार करते हैं-

लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः
प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावनेति च ॥28॥

- शास्त्रों का लेखन, पूजन, दान, श्रवण, वांचन, ग्रहण, प्रकाशन, स्वाध्याय, चिंतन, भावना इस प्रकार ये भी योगबीज हैं।

* लेखना - सत्पुस्तकों के विषय में लिखना, लिखवाना
* पूजना - स्नान पूजन, पुष्प वस्त्रादि द्वारा
* दान - पुस्तकादि ज्ञानोपकरण दूसरे को देना
* श्रवण - व्याख्यान आदि में तत्त्वों का श्रवण
* वाचना - पुस्तकादि का स्वयं वांचन
* उद्ग्रह - गुरु आदि के पास ग्रंथों का अथवा सूत्र-अर्थ से विधिपूर्वक ग्रहण
* प्रकाशना - स्वयं ग्रहण किए हुए सूत्रार्थ का भव्य जीवों में प्रकाशन
* स्वाध्याय - वाचनादि पाँच प्रकार से ग्रंथों का स्वाध्याय
* चिंतना - ग्रंथों के अर्थ से चिंतनिका
* भावना - ग्रंथों के अर्थ के भाव से आत्मा को भावित करना

* ये सभी योगबीज तभी होते हैं जब ये कार्य संशुद्ध हों अर्थात् संज्ञा विकल्पणान्वित और फलाभिसंधि रहित हो।

बीजश्रुतौ च संवेगात् प्रतिपत्तिः स्थिराशया
तदुपादेयभावश्च परिशुद्धो महोदयः ॥29॥

DATE ___/___/___

-बीज को कहने वाले वचनों में संवेग से स्थिर आशयवाली प्रतिपत्ति और परिशुद्ध, महान् उदय वाला ऐसा बीजश्रुति का उपादेय भाव भी योगबीज है।

* बीजश्रुति- पूर्व कथित योगबीजों को कहने वाले वचन
* संवेगात्- श्रद्धा विशेष
* प्रतिपत्ति- 'ये जिस प्रकार कहा है, वह वैसा ही है' ऐसा स्वीकार
* स्थिराशय- उस प्रकार के चित्त प्रबंध के विपरीत प्रवाह का अभाव होने से आशय स्थिर है जिसका ऐसी प्रतिपत्ति। अर्थात् उस जीव का चित्त भोग मार्ग के विपरीत प्रवाह में नहीं बहता है, वह योग मार्ग में होने के कारण आशय स्थिर हो जाता है।
* उपादेय भाव- बीजश्रुति का उपादेय भाव अर्थात् ये योगबीज जीवन में आदरने योग्य हैं, इस प्रकार का भाव।
* परिशुद्ध- फल की उत्सुकता के अभाव के कारण परिशुद्ध अर्थात् यह उपादेय भाव फल की उत्सुकता रहित होता है, जीव को कुछ भी फल की अपेक्षा नहीं होती।
* महोदय- ~~यह~~ इस परिशुद्ध होने के कारण ही यह उपादेय भाव महान् उदय वाला होता है, अर्थात् आनुषंगिक अभ्युदय से मोक्ष का साधन होता है।

यह योगबीज का ग्रहण जैसे होता है, वह कह रहे हैं-

एतद् भावमले क्षीणे प्रभूते जायते नृणाम्
करोत्यल्पव्यक्तचैतन्यो महत्कार्यं न यत्क्वचित् ॥३

-बहुत भावमल क्षीण होने पर मनुष्यों को योगबीज का ग्रहण होता है क्योंकि अल्पव्यक्तचैतन्य वाला कभी महान् कार्य नहीं कर सक

* भावमल- उन-उन पुद्गल के संबंध की योग्यता के लक्षण वाला अर्थात् जीव और पुद्गल का संबंध होने में दोनों की उस

DATE ___/___/___

प्रकार की योग्यता रहती है, जैसे- योग और कषाय से जीव पुद्गलों को आकर्षित कर परिणमन करता है, वह आत्मा की योग्यता, और पुद्गल में भी जो आत्मा की तरफ आकर्षित होने का गुण, वह पुद्गल की योग्यता। यहाँ 8 पर आत्मा की पुद्गल को आकर्षित करने की योग्यता को भावमल कहा है अर्थात् आत्मा के जिस परिणाम से आठ वर्गणा के पुद्गल उससे जुड़े, वे परिणाम भावमल। आठ वर्गणा में भी मुख्यतया कर्म ही लेना है, इसलिए पाँच प्रकार के आस्रव, वे भावमल।

* प्रभूत- अनेक पुद्गल परावर्तनों के आक्षेपक ऐसा भावमल अर्थात् बहुत संसार को खींचने वाले या बढ़ाने वाले ऐसा भावमल।
* नृणाम्- मनुष्य। प्रायः योगबीज का ग्रहण मनुष्यों को ही होता है, अन्यथा चारों गति में भी हो सकता है।
* प्रभूत भावमल क्षीण होने पर ही क्यों, अल्प क्षीण होने पर योगबीज ग्रहण क्यों नहीं होता?

उ. जैसे- अव्यक्त चैतन्य वाला अर्थात् हित-अहित के विवेक से शून्य ऐसा बालक धनोपार्जन जैसा बड़ा कार्य नहीं कर सकता, व्यक्त चैतन्य वाला ही करता है, वैसे ही बहुत भावमल क्षीण होने पर जिस जीव में हित-अहित का विवेक प्रगट हो, वही योगबीज ग्रहण करता है।

जब यह भावमल का क्षय होता है, वह समय कहते हैं-

चरमे पुद्गलावर्ते क्षयश्चास्योपपद्यते
जीवानां लक्षणं तत्र यत एतदुदाहृतम् ॥३१॥

- भावमल का क्षय चरम पुद्गलावर्त में होता है क्योंकि चरम पुद्गलावर्त में जीवों के ये लक्षण कहे गए हैं।

* चरम पुद्गलावर्त- श्लोक-२५ में कहे गए लक्षण वाला।
* आगे की के श्लोक में कहे जाने वाले जीवों के लक्षण चरम पुद्गलावर्त

DATE ___/___/___

में प्रगट होते हैं, इस पर से यह निश्चित होता है कि प्रभूत भावमल का क्षय जीव के चरम पुद्गलावर्त में होता है।

चरम पुद्गलावर्त में वर्तते जीवों के लक्षण-

दुःखितेषु दयाऽत्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च
औचित्यात्सेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ॥32॥

- दुःखी जीवों में अत्यंत दया, गुणवानों में अद्वेष और सभी जीवों के विषय में सामान्य से औचित्य से सेवन।

★ दुःखी- शरीर आदि संबंधी दुःखों से दुःखी
★ अत्यन्त दया- अनुशयत्व सहित ऐसी दया अर्थात् अनुशय यानि पश्चात्ताप। व दुःखी जीवों के दुःख को दूर नहीं करने से पश्चात्ताप भी होता है अथवा अनुकम्पा अर्थ भी ले सकते हैं। अनुकम्पा= दूसरे के दुःख को देखकर उसके पीछे स्वयं भी काँपने लगना।
★ अद्वेष- ईर्ष्या रहित
★ गुणवत्सु= विद्या आदि गुणों से युक्त के विषय में
★ सभी जगह अथवा सभी जीवों के विषय में सामान्य से औचित्य का सेवन करना= सभी जीव अर्थात् गुणी- अथवा दोषवान्, दीन-दुःखी अथवा धनवान्, स्वजन अथवा अन्य कोई भी जीव से सामान्य से अर्थात् भेदभाव किए बिना, औचित्य का सेवन शास्त्रों के अनुसार करना।

* ये तीनों लक्षण चरम पुद्गलावर्त में रहे जीव में होते हैं तथा इनके बाद ही जीव योगबीज का ग्रहण करता है।

जीव में ये लक्षण प्रगट होने के बाद क्या होता है-

एवंविधस्य जीवस्य भद्रमूर्तेर्महात्मनः
शुभो निमित्तसंयोगो जायतेऽवञ्चकोदयात् ॥33॥

DATE ___/___/___

- भद्रमूर्ति और महात्मा ऐसे इस प्रकार के जीव को शुभ निमित्त संयोग अवंचक के उदय से होता है।

★ भद्रमूर्ति - प्रियदर्शन अर्थात् जिसका दर्शन लोगों को प्रिय है, प्रीति उत्पन्न करे

★ महात्मा - योगबीज ग्रहण करने के सद् वीर्य के योग से महान् है आत्मा जिसका, ऐसा महात्मा

★ शुभ निमित्तसंयोग - प्रशस्त, सद् योग आदि का संयोग। सद् योग आदि में आदि पद से क्रिया और फल ग्रहण करना है। सद् योग में सद्गुरु का योग (सद् दर्शन आदि)। क्रिया में सद् वह जीव गुरु आदि को वंदन करे वह सत् क्रिया। फल में गुरु से उपदेश सुनना वह फल।

प्र. यहाँ सद्योगादि को प्रशस्त क्यों कहा है? उ. क्योंकि मोक्ष के साधन ऐसे योगबीज की प्राप्ति में ये ही निमित्त है।

★ अवंचक - एक प्रकार की समाधि विशेष जिसके उदय से निमित्त संयोग होता है। इसके लक्षण श्लोक 34 में तथा ग्रंथ के अंतिम कुछ श्लोकों में वर्णन किए जाएँगे।

अवंचक के स्वरूप को कहते हैं -

योगक्रियाफलाख्यं यत् श्रूयतेऽवञ्चकत्रयम्
साधूनाश्रित्य परमभिधुत्सक्ष्याक्रियोपमम् ॥34॥

- शास्त्रों में योग, क्रिया और फल नाम वाला जो अवंचकत्रय सुनाते है, वह साधुओं का आश्रय कर बाण से लक्ष्य साधने की क्रिया की उपमा वाला उत्तम त्रय है।

★ आगम में योगावंचक, क्रियावंचक और फलावंचक नाम वाला अवंचकत्रय मिलता है।

अवंचक - न वंचक इति अवंचक, जो आत्मा को ठगने वाला नहीं

DATE ___/___/_____

है, वह अवंचक। यह एक प्रकार से अव्यक्तसमाधि ही है अर्थात् कर्मों के विचित्र क्षयोपशम से उस प्रकार का आत्मा का आशय विशेष है, जिसमें जीव कुछ समाधि अनुभवता है। अव्यक्त समाधि इसलिए कहा क्योंकि व्यक्तसमाधि तो क्षायिक भाव से होने पर होने वाली होने के कारण, वह 8 से 12 गुणस्थानक में होती है।

★ यह अवंचकत्रय साधुओं का आश्रय करके समझना है अर्थात् साधुओं का योग, साधुओं को वंदनादि क्रिया, और उनका धर्मोपदेश रूप फल्य, इस प्रकार अवंचकत्रय योगबीज ग्रहण में कारणभूत है।

★ यह अवंचकत्रय का स्वरुप इषु लक्ष्य क्रिया की उपमावाला है। अर्थात् बाण की लक्ष्य क्रिया, लक्ष्य की प्रधानता होने से, लक्ष्य को अविसंवादी होती है अर्थात् बाण लक्ष्य की ओर छोड़ा, यदि बाण ने लक्ष्य वींधा तो ही वह लक्ष्य क्रिया कहलाएगी अन्यथा लक्ष्य क्रियात्व का अयोग होने से वह विसंवादी क्रिया हो जाएगी।

इस प्रकार अवंचकत्रय का स्वरुप है। साधुओं का आश्रय कर योगावंचक अर्थात् साधुओं का योग अविसंवादी बनता है। इसी प्रकार उनको वंदनादि क्रिया और उसका फल्य भी अविसंवादी होता है।

अवं अवंचकत्व जिस निमित्त से होता है, वह कहते हैं-

एतच्च सत्प्रणामादिनिमित्तं समये स्थितम्
अस्य हेतुश्च परमस्तथाभावमलात्पता ॥35॥

-यह अवंचकत्रय सत्प्रणामादि निमित्त वाला शास्त्रों में कहा है और सत्प्रणामादि का परम हेतु उस प्रकार की भावमल की अल्पता है।

★ यह अवंचकत्रय साधु वंदनादि निमित्तों से होता है, इस प्रकार सिद्धान्त में कहा गया है।

★ सत्प्रणामादि का परम हेतु भावमल की अल्पता है। जैसे- रत्न आदि का मल दूर होने पर ज्योत्स्ना प्रगट होती है, वैसे ही ये निमित्त

DATE ___/___/___

भावमल दूर होने पर प्रगट होते हैं।

प्रकृत वस्तु को दृढ़ करने के लिए व्यतिरेक के सार वाला उदाहरण देते हैं-

नास्मिन् घने यतः सत्सु तत्प्रतीतिर्महोदया
किं सम्यग् रूपमादत्ते कदाचिन्मन्दलोचनः ॥36॥

- जैसे मंद लोचन वाला कभी सम्यग् रूप सम्यग् देखता है? अर्थात् नहीं देखता वैसे भावमल घन होने पर महोदय वाली सत्प्रतीति साधुओं पर नहीं होती।
* भावमल प्रबल होने पर साधुओं के विषय में सत्प्रतीति नहीं होती। यह सत्प्रतीति अभ्युदय आदि के साधकत्व के कारण महान् उदय वाली होती है।
* इस ही अर्थ को प्रतिवस्तु की उपमा अर्थात् समान/प्रतिस्पर्धी वस्तु की उपमा से कहते हैं- कोई मंद लोचन वाला पुरुष क्या कोई रूप को उसके लक्षण, व्यंजन आदि द्वारा संपूर्ण रूप से देख सकता है? अर्थात् इंद्रिय दोष के कारण नहीं देख सकता। ऐसे ही भावमल प्रबल होने पर सत्प्रतीति नहीं हो सकती।
* व्यतिरेक - इसमें ऐसा सिद्ध किया कि जहाँ भावमल की अल्पता नहीं होती वहाँ सत्प्रतीति भी नहीं होती।

अब अधिकृत वस्तु के समर्थन के लिए अन्वय के सार वाला दृष्टांत कहते हैं-

अल्पव्याधिर्यथा लोके तद्विकारैर्न बाध्यते
चेष्टते चेष्टसिद्ध्यर्थं वृत्त्यैवायं तथा हिते ॥37॥

- जैसे लोक में अल्प व्याधि वाला पुरुष उसके विकारों से बाधित नहीं होता वैसे और इष्ट सिद्धि के लिए यत्न करता है वैसे यह योगी हित में प्रवृत्ति

DATE ___/___/_____

करता है।

★ अल्पव्याधिः- क्षीणप्रायरोग

★ तद् विकार- खाज-खुजली आदि विकार

जैसे कोई भी पुरुष क्षीण प्राय रोग वाला हो, तो वह रोग के विकारों से बाधा नहीं प्राप्त करता और इष्ट सिद्धि के लिए अर्थात् कुटुम्ब पालन के लिए राजसेवा आदि व्यापार में चेष्टा करता है।

★ इस दृष्टान्त के अर्थ उपनय को कहते हैं- वैसे ही यह योगी अल्पव्याधि वाले पुरुष की तरह स्थूल अकार्य की प्रवृत्ति का निरोध करने द्वारा दान आदि हित विषय में प्रवृत्ति करता है।

★ वृत्त्या (धृत्त्या पाठान्तर)- ~~शास्त्र~~ शास्त्रों में पाँच प्रकार की धर्मयोनि कही है (i) ~~धृति~~ धृति- वह जीव धीरज से प्रवृत्त होता है, जल्दबाजी अथवा आकुल-व्याकुल, अस्थिर नहीं होता। (ii) श्रद्धा- 'मुझे धर्म कार्य से ही सुख मिलेगा' ऐसी श्रद्धा। (iii) सुखा- श्रद्धा होने के कारण वह प्रवृत्ति को सुख पूर्वक करता है। (iv) विविदिषा- धर्म तत्त्व जानने की इच्छा। (v) विज्ञप्ति- विविदिषा की तृप्ति हो ऐसा ज्ञान प्राप्त करना। इन पाँचों से जीव को धर्म की प्राप्ति होती है, इसलिए इन्हें धर्मयोनि कहा है।

यहाँ मूल श्लोक में जो वृत्ति शब्द है, उसके ~~के~~ दो अर्थ ले सकते हैं

(i) पाँच प्रकार की धर्म योनि रूप वृत्त्य वृत्ति से, वह जीव प्रवृत्त हो।

(ii) धृत्त्या पाठान्तर से धृति नामक प्रथम धर्मयोनि रूप वृत्ति से वह जीव प्रवृत्त हो।

यहाँ दोनों अर्थ संगत हो सकते हैं।

भावमल की अल्पता, अवंचक का उदय, शुभ निमित्तसंयोग, योगबीज ग्रहण आदि सभी वस्तु जब होती है, वह समय कह रहे हैं-

यथाप्रवृत्तकरणे चरमेऽल्पमलत्वतः
आसन्नग्रन्थिभेदस्य समस्तं जायते ह्यदः ॥३४॥

DATE ___/___/___

- चरम यथाप्रवृत्तकरण में भावमल का अल्पपन होने के कारण आसन्न है ग्रंथिभेद जिसका ऐसे जीव को यह सब कार्य होता है।

* यथाप्रवृत्तकरण - पूर्ववर्णित स्वरूप वाला। अर्थात् संसार में भटकते जीव के कर्म अकाम निर्जरा से स्वतः ही लघु स्थिति वाले होने पर अल्प वैराग्य वाला आत्म परिणाम।
* चरम - संसार चक्र में जीव का मोक्ष में जाने पूर्व अंतिम यथाप्रवृत्तकरण, जिसके बाद अपूर्वकरण अवश्य होता है।
* उस समय जिस जीव का ग्रंथिभेद समीप में है, ऐसे जीव को अल्पमलत्व के कारण यह सभी कार्य प्रगट होते हैं।

अथवा यह चरम यथाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण ही है, इस प्रकार कहते हैं

अपूर्वासन्नभावेन व्यभिचारवियोगतः
तत्त्वतोऽपूर्वमेवेदमिति योगविदो विदुः ॥39॥

- अपूर्व-करण के समीप होने के कारण व्यभिचार के वियोग से तात्त्विक रीति से यही अपूर्वकरण है, इस प्रकार योगाचार्य जानते हैं।

* चरम यथाप्रवृत्तकरण को ही अपूर्वकरण कहने के दो कारण हैं -

(i) अपूर्वासन्नभाव - अपूर्वकरण के समीप होने से
(ii) व्यभिचार वियोग - पूर्व के सभी यथाप्रवृत्तकरण के बाद अपूर्वकरण नहीं होता था, क्योंकि यथाप्रवृत्तकरण में इतना तीव्र परिणाम नहीं था। इसलिए वे व्यभिचार वाले थे। किंतु यहाँ चरम यथाप्रवृत्तकरण में व्यभिचार का वियोग होने से अवश्य अपूर्वकरण होता है। इसलिए यह चरम यथाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण ही है।

यहाँ पर गुणस्थानक का योजन कहते हैं -

प्रथमं यद् गुणस्थानं सामान्येनोपवर्णितम्
अस्यां तु तदवस्थायां मुख्यमन्वर्थयोगतः ॥40॥

DATE ___/___/_____

- शास्त्रों में जो प्रथम गुणस्थानक सामान्य से कहा है, वह इस अवस्था में उपचरित है क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति का योग यहाँ है।

★ शास्त्रों में, आगमों में प्रथम गुणस्थानक जो मिथ्यादृष्टि नाम वाला है, वह सामान्य से वर्णन कराया है। वह मुख्य रूप से इस अवस्था के लिए निरुपचरित है।

★ प्रश्न: वह इस अवस्था के लिए कैसे निरुपचरित है?

उ. गुण-स्थानक शब्द का व्युत्पत्ति वाला अर्थ यहाँ घटता है। गुणस्थानक यानि गुणों का स्थान। ओघदृष्टि वाले जीव में कोई गुण प्रगट नहीं होते इसलिए अनादि-कालत्व से मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक उस जीव के लिए उपचार से कहा जाता है। वास्तविक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक उपचार किए बिना प्रथम चार दृष्टि में होता है क्योंकि चार दृष्टि में भावमल की अल्पता से जीव में अनेक गुण प्रगट हो जाते हैं।

मित्रा दृष्टि में जीव को प्राप्त होने वाला विकासक्रम

1. जीव का चरम यथाप्रवृत्तकरण में प्रवेश
2. भावमल की अल्पता के कारण सत्प्रणामादि निमित्तों की प्राप्ति
3. सत्प्रणामादि से अवंचकत्रय की प्राप्ति
4. अवंचक के उदय से शुभ निमित्तसंयोग की प्राप्ति
5. अवंचक का उदय चरम पुद्गलावर्त में होता है। चरम पुद्गलावर्त में स्थित जीव के तीन लक्षण होते हैं (i) दुःखी जीवों पर दया (ii) गुणवान पर अद्वेष (iii) औचित्य सेवन
6. इस अवंचक आदि गुणों से जीव के प्रभूत भावमल का क्षय होता है।
7. इस क्षय से बीजश्रुति में प्रतिपत्ति और उपादेय भाव की प्राप्ति
8. उपादेय भाव से योगबीजों की प्राप्ति (संशुद्ध हो तो ही योगबीज अन्यथा नहीं)

★(i) श्लोक 38 में इन सभी कार्य का कालत्व सामान्य से बताया है।

DATE ___/___/___

(ii) श्लोक ३। में जीव के चरम पुद्गलावर्त्त के काल में भावमल का क्षय बताया है, जब जीव में तथाभव्यत्व का पाक नहीं होता है।

(iii) श्लोक ३२५ में जीव के संशुद्ध योगबीज का काल बताया है, उसमें भी मुख्य कारण तथाभव्यत्व का पाक है।

तारा दृष्टि

मित्रा दृष्टि कही गई, अब तारा दृष्टि कहते हैं-

तारायां तु मनाक्स्पष्टं नियमश्च तथाविधः
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥५॥

- तारा दृष्टि में बोध कुछ स्पष्ट होता है, उस प्रकार नियम होते हैं, हित के आरम्भ में अनुद्वेग और तत्त्व जानने के विषय वाली जिज्ञासा होती है।

* तारा दृष्टि में बोध अथवा दर्शन कुछ स्पष्ट होता है।
* इस दृष्टि में नियम योगांग प्राप्त होता है। 'नियम' भी प्रथम दृष्टि के यम जैसा इच्छादि चार प्रकार का होता है। ये नियम धर्म की रक्षा के लिए होते हैं।

नियम पाँच प्रकार से

1. शौच - शौच दो प्रकार (i) बाह्य और (ii) अभ्यंतर। (i) बाह्य शौच - शरीर की शुद्धि (ii) अभ्यंतर शौच - मैत्री आदि भावों से आत्मा की मलिनता दूर करना। शौच के पाँच लाभ (द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका - यशो वि. जी म.)

ⓐ स्वांगे जुगुप्सा - शरीर की ममता का त्याग। शरीर पर जुगुप्सा
ⓑ अन्यैः असंसर्ग - अन्यों के शरीर आदि के साथ असंसर्ग
ⓒ सत्त्वशुद्धि - शौच भावना से जीव के राग-द्वेष कम होने से आत्मा की शुद्धि
ⓓ सौमनस्य - शरीर की साज-सज्जा की खेद रूप प्रवृत्ति छोड़ने से मानसिक आनंद
ⓔ एकाग्रता - शरीर की ममता कम होने से योग में एकाग्रता
ⓕ इंद्रिय जय - शरीर का ममत्व अल्प होने से इंद्रिय के विषय में अनासक्ति।

DATE __/__/____

2. संतोष- जो वस्तु जितनी और जैसी प्राप्त हुई उसमें वैसा संतोष मानना।
3. तप- बाह्य और अभ्यंतर तप।
4. स्वाध्याय- शास्त्रों का वांचन, पठन, अर्थचिंतन आदि
5. ईश्वर प्रणिधान- भगवान् के स्वरूप का चिंतन, उसमें एकाग्र बनना।

★ इस प्रकार तारा दृष्टि में द्वितीय योग अर्थात् नियम की प्रतिपत्ति स्वीकार है। उस प्रकार के क्षयोपशम के अभाव में मित्रा में नियम का अभाव ही है।

★ पारलौकिक हित के आरम्भ में उद्वेग (कंटाला) नहीं होता, यह उद्वेग अनुद्वेग अखेद सहित होता है, इसलिए ही उसे हित की सिद्धि होती

★ इस दृष्टि में जिज्ञासा गुण प्रगट होता है। उसे धर्म तत्त्व ~~सुनने~~ जानने की तीव्र इच्छा प्रगट होती है। ~~यह गुण पहली दृष्टि के अद्वेष गुण से ही प्रगट होता है~~ यह गुण पहली दृष्टि का अद्वेष गुण होने के कारण प्रगट होता है, तथा (तत्=तत्त्व) तत्त्व प्रतिपत्ति के अनुकूल्य (आनुगुण्य) होता है।

इस दृष्टि में जो अन्य गुण होते हैं, उन्हें कहते हैं-

भवत्यस्यां तथाऽच्छिन्ना प्रीतिर्योगकथास्वत्यम्
शुद्धयोगेषु नियमाद् बहुमानश्च योगिषु ॥५४॥

-इस दृष्टि में योग कथाओं पर अत्यन्त अच्छिन्न (अस्खलित) प्रीति होती है, और शुद्ध योग वाले योगियों पर नियम से बहुमान होता है।

★ इस दृष्टि में जीव को योग कथाओं पर भावप्रतिबंधसारता से अत्यंत अच्छिन्न, अस्खलित प्रीति होती है। भावप्रतिबंधसार- योग कथाओं में उसका मन ऐसा लगता है कि उसके भाव कथा में प्रतिबंधित हो जाते हैं, उसे वह श्रवण छोड़ने की इच्छा नहीं होती, इस प्रकार भाव की प्रतिबंधसारता होने के कारण ऐसी प्रीति होती है।

★ शुद्धयोग- निष्पापता है प्रधान जिसमें, ऐसे निष्पाप प्रधान योग।

★ इस दृष्टि में ऐसे निष्पाप योग वाले योगियों पर जीव को बहुमान अवश्य होता है।

DATE ___/___/___

केवल यहीं गुण नहीं होते, अन्य भी होते हैं-

यथाशक्त्युपचारश्च योगवृद्धिफलप्रदः
योगिनां नियमादेव तदनुग्रहधीयुतः ॥43॥

- उपचार संपादक (स्वयं) की अनुग्रह बुद्धि से युक्त, योग वृद्धि रूपी फल देने वाला, ऐसा उपचार यथाशक्ति योगियों का उपचार नियम से यहाँ है।

★ यथाशक्ति - शक्ति के औचित्य से
★ उपचार - ग्रासादि के संपादन द्वारा सेवा
★ योगवृद्धिफल प्रद - योग की वृद्धि रूपी फल देने वाला उपचार / प्र. किसके योग वृद्धि ? उ. योगियों के योग की वृद्धि अथवा उपचार करने वाले के योग की वृद्धि, दोनों अर्थ सम्मत हैं / प्र. योगवृद्धि रूपी फल कैसे मिलता है? उ. (तत) उपचार के सम्यक् परिणाम द्वारा।
★ उपचार कैसे होता है? उ. अन्यथा अर्थात् विपरीत रूप से योग के विघात का हेतु बने, इस प्रकार नहीं होता।
★ तदनुग्रहधीयुतः - उपचारि संपादक स्वयं की अनुग्रह बुद्धि से युक्त यह उपचार होता है।

इस उपचार को ही विशेष से कहते हैं-

लाभान्तरफलश्चास्य श्रद्धायुक्तो हितोदयः
क्षुद्रोपद्रवहानिश्च शिष्टसम्मतता तथा ॥44॥

- उपचार करने वाले का यह उपचार लाभान्तर फल वाला, श्रद्धायुक्त, हितोदय वाला, क्षुद्र उपद्रव की हानि करने वाला और शिष्ट सम्मतता वाला है।

★ अस्य - उपचार करने वाला का
★ लाभान्तरफल - अन्य लाभ रूपी फल अर्थात् उपचार कर्ता को योगवृद्धि रूपी फल तो मिलता ही है किंतु शुद्ध उपचार के पुण्य से उस प्रकार का विपाक होने से अन्य लाभ भी प्राप्त होते हैं जैसे - धन, संपत्ति, यश-कीर्ति इत्यादि

DATE __/__/____

* श्रद्धा युक्त- ज्यामान्तर फल्य वाला होने से ही यह उपचार श्रद्धा युक्त है क्योंकि यदि श्रद्धा युक्त न हो तो ज्यामान्तर की प्राप्ति भी नहीं हो सक
Q. किसके प्रति श्रद्धा युक्त ? उ. योगी के प्रति, धर्म प्रति श्रद्धा युक्त।
* हितोदय- यह उपचार हित के उदय वाला है। ~~क्योंकि~~ इस यहाँ हित के दो कारण है -(i) उपचार। सेवा करने से मोहनीय कर्म का क्षयोपशम बढ़ना, जिससे बोध भी बढ़ता है (ii) योगी से भी ज्ञान प्राप्ति होना।
* क्षुद्रोपद्रवहानि - उपचार से क्षुद्र-उपद्रवों की हानि होती है। क्षुद्र उपद्रवों की हानि होने से व्याधि आदि का नाश होता है। आधि- मानसिक दुःख व्याधि- शारीरिक दुःख, उपाधि- संसारिक प्रतिकूलता।
* शिष्टसम्मतता- शिष्टों पुरुषों के बीच में इस जीव की भी सम्मतता होती है, अति सुंदर बहुमान होता है।

भयं नातीव भवजं कृत्यहानिर्न चोचिते
तथाऽनाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया ॥45॥

- इस दृष्टि वाले जीव को संसार से उ० उत्पन्न ऐसा भय अतीव नहीं होत उचित प्रवृत्ति में कृत्य की हानि नहीं होती और अनाभोग से भी अत्यंत अनुचित क्रिया नहीं होती।
* भय न अति भवज- संसार से उत्पन्न ऐसा भय इस जीव को अति नहीं होता क्योंकि उस प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति वह नहीं करता।
* कृत्यहानि न- उचित ऐसे सभी कार्यों में धर्म का आदर होने से कृत्य की हानि नहीं होती।
* अनुचित क्रिया न- अनाभोग से भी अर्थात् भूल से भी, अजानते भी अत्यंत अनुचित क्रिया इस जीव को नहीं होती।

कृत्येऽधिकेऽधिकगते जिज्ञासा तत्त्वसान्विता
तुल्ये निजे तु विकल्पे सन्त्रासो द्वेषवर्जितः ॥46॥

DATE ___/___/___

- अधिकगुणवाले आचार्यादि में रहे कृत्यों के विषय में यह जीव को लालसा युक्त जिज्ञासा होती है और स्वयं में हुए रहे विकल्प कृत्यों में द्वेष रहित संत्रास होता है।

* कृत्ये - ध्यानादौ
* अधिके - स्वयं की भूमिका की अपेक्षा से अधिक
* अधिकगते - आचार्यादि में रहे कृत्य
* जिज्ञासा - "यह ऐसा कैसे होता है? ये कैसे ऐसी क्रिया करते हैं?" इस प्रकार की जिज्ञासा
* लालसान्विता - 'स्वयं में भी ऐसा कृत्य प्रगट हो' इसकी अभिलाषा के अतिरेक से युक्त है जिज्ञासा।
* तुल्य - वन्दनादि कृत्य, जो आचार्यादि भी करते हैं और यह जीव भी।
* विकल्प - कायोत्सर्ग करना आदि द्वारा विकल्प अर्थात् स्वयं की अपूर्ण-खंडित क्रिया।
* संत्रास - 'मैं विराधक हूँ, यह क्रिया बराबर नहीं करता हूँ' आदि त्रास, दुःख होता है।
* द्वेषवर्जित - वह त्रास द्वेष रहित होता है अर्थात् उस जीव को अधिक गुणवान् पर द्वेष ईर्ष्या नहीं होती किंतु स्वयं की क्रिया से दुःख होता है।
* इस दृष्टि में रहे जीव को अधिक गुणवान् के योग की जिज्ञासा होती है, स्वयं में ऐसा प्रगटाने की लालसा होती है तथा स्वयं की खंडित क्रिया से खेद होता है। यह सब उसे इस दृष्टि अर्थात् बोध के सामर्थ्य से होता है।

दुःखरूपो भवः सर्व उच्छेदोऽस्य कुतः कथम्
चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च साऽशेषा ज्ञायते कथम् ॥५॥

- यह पूरा संसार दुःखरूप है, इसका उच्छेद किससे हो? कैसे होगा? सज्जनों की, मुनियों की प्रवृत्ति आश्चर्यकारी, वह पूर्ण रूप से कैसे ज्ञात हो?

DATE ___/___/_____

* इस दृष्टि में रहे जीव की विचार धारा, जो सतत वैराग्य की ओर बढ़ रही है, उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं।
* वह विचार करता है कि- यह पूरा संसार जन्म-जरा आदि स्वरूप वाला होने के कारण दुःख रूप है। इस संसार का उच्छेद किस हेतु से होगा? तो उत्तर मिलता है क्षान्ति आदि से। फिर विचारता है कि क्षान्ति आदि गुण कैसे प्राप्त हो? स्वयं ही उत्तर प्राप्त करता है कि मुनियो की प्रवृत्ति से। किंतु मुनियों की प्रवृत्तितो, चैत्यवंदनादि क्रिया तो आश्चर्य कारी है। क्योंकि वह एक विधिशुद्ध है। वह अथवा वह प्रवृत्ति चैत्यवंदन आदि प्रकार से अनेक प्रकार (चित्रा) की है, वह अनेक प्रकार की प्रवृत्ति संपूर्णतया तो कैसे जान सकते हैं?

इस विचारधारा में वह जीव सोचता है कि शास्त्रों से मुनियों की प्रवृत्ति जान सकते हैं। किंतु शास्त्रों से भी कैसे जाने, क्योंकि (यतः)-

नास्माकं महती प्रज्ञा सुमहान् शास्त्रविस्तरः
शिष्टाः प्रमाणमिह तादित्यस्यां मन्यते सदा ॥५३॥

- हमारी प्रज्ञा महान् नहीं है, शास्त्रों का विस्तार तो सुमहान् है। इसलिए संसार के उच्छेद के लिए शिष्ट पुरुष ही प्रमाण है, इस प्रकार इस दृष्टि में सदा मानता है।

* वह जीव सोचता है कि शास्त्र से मुनियों की प्रवृत्ति भी कैसे ~~क्य~~ जाने? क्योंकि शास्त्र का विस्तार तो बहुत बड़ा है और हमारी प्रज्ञा तो इतनी बड़ी नहीं है।
* प्रज्ञा- बुद्धि. यहाँ पर संवादिनी प्रज्ञा लेना है। संवादिनी यानि शास्त्र की के साथ अविरोधी ऐसी मति। वह जीव सोचता है कि हमारी प्रज्ञा इतनी विशाल नहीं है अर्थात् संवादिनी नहीं है क्योंकि स्वयं की बुद्धि की कल्पनाओं में उसे विसंवाद का दर्शन होता है।
* शास्त्र का विस्तार उस-उस प्रवृत्ति का हेतु होने के कारण बहुत विशाल है अर्थात् योग की बहुत सारी प्रवृत्तियाँ है और उन सभी प्रवृत्ति के हेतु शास्त्र है

DATE ___/___/___

इसलिए शास्त्र बहुत विशाल है।

* इसलिए वह जीव विचारता है कि मैं जान नहीं सकता हूँ तो मुझे क्या करना चाहिए? शिष्ट पुरुषों का यहाँ प्रमाण मानकर चलना चाहिए अर्थात् इस व्यतिकर में, इस बाबत में शिष्ट पुरुष, साधु जन से सम्मत जैसा करें, वही प्रमाण है।
* इस प्रकार शिष्ट पुरुषों पर श्रद्धा रखकर वह जीव, जो शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित है, उसे ही सामान्य से यथाशक्ति करने के लिए उद्यत होता है।

तारा दृष्टि में जीव का विकासक्रम

* योग कथाओं में अत्यंत प्रीति
* योगियों पर बहुमान
* योगियों की सेवा, उपचार
* संसार भय का नाश
* कृत्य की हानि नहीं होती
* अनाभोग से भी अनुचितक्रिया नहीं होती
* आचार्यादि में रहे कृत्य की जिज्ञासा
* 'ऐसे गुण मेरे अंदर कब प्रगट होंगे' ऐसी अभिलाषा
* स्वयं के विकल कृत्य में दुःख

वह चिंतन करता है कि 'दुःखरूप संसार का उच्छेद कैसे होगा? योगी मुनियों की प्रवृत्ति कैसे ज्ञात करूँ? शास्त्र विस्तार तो महान् है, अहमारी प्रज्ञा विशाल नहीं है', इसलिए शिष्टों को प्रमाण मानकर चलता है।

बला दृष्टि

सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढम्
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः ॥४१॥

DATE __/__/____

- बत्सादृष्टि में सुखासन से युक्त दर्शन दृढ होता है, तत्त्वशुश्रूषा श्रेष्ठ होत है और योगविषयक क्षेप दोष नहीं होता।

* बत्सा दृष्टि में सुखासन योगांग से युक्त दृढ होता है।
* जिज्ञासा से उत्पन्न हुई ऐसी तत्त्व की शुश्रूषा श्रेष्ठ होती है।
* क्षेप - योग के विषय में क्षेप दोष नहीं होता अर्थात् मन इधर-उधर नही जाता। यह क्षेप दोष का अभाव अनुद्वेग के कारण होता है।
* इस दृष्टि में जीव का बोध दृढ होता है, जिससे प्रवृत्तिकाल में भी स्मृति पटु होने से क्रिया में यत्नलेश होता है। अब जीव की उपादेय बुद्धि धर्म में दृढ होने से वह यम, नियम के पालन में स्थिरता पूर्वक आसन लगाता है, मुद्राओं का पालन करता है।

दूसरी दृष्टि में जीव को जिज्ञासा होती है, उस कारण से ही इस दृष्टि में को शुश्रूषा होती है क्योंकि धर्म जानने की इच्छा होती है, फिर ही सुनने की इच्छा होती है।

दूसरी दृष्टि में जीव को अनुद्वेग होता है इसलिए यहाँ क्षेप नहीं होता क्योंकि पहले धर्म क्रिया में उद्वेग जाने से उत्साह प्रगटता है, फिर ही मन स्थिर होता है।

सुखासन के अर्थ को स्पष्ट करते हैं -

नास्यां सत्यामसत्तृष्णा प्रकृत्यैव प्रवर्त्तते
तदभावाच्च सर्वत्र स्थितमेव सुखासनम् ॥5०॥

- यह दृष्टि होने पर असत् तृष्णा प्रकृति से ही नहीं होती और उसके अभ से ही सभी प्रवृत्ति सुखासन स्थित है।

* इस दृष्टि में जीव को स्वभाव से ही असत् तृष्णा नहीं होती क्योंकि यहाँ पर विशिष्ट शुद्धि का योग है।
* असत् तृष्णा - स्थिति यानि संसार में रहना, संसार में रहने के निबंधन के अतिरिक्त विषय वाली तृष्णा वह असत् तृष्णा अर्थात् संसार मे

DATE __/__/____

रहने के कारण, न आवश्यक वस्तु के अतिरिक्त विषय वाली तृष्णा इस जीव को सत् तृष्णा तो रहती है अर्थात् संसार में जीने के लिए आवश्यक वस्तु की तृष्णा होती है किंतु भाव साधु को सत् तृष्णा भी नहीं होती। भाव साधु को 'गोचरी मिले तो संयम वृद्धि, न मिले तो तप वृद्धि' ऐसी भावना होती है।

असत् तृष्णा के अभाव से सभी प्रवृत्तिओं में व्याप्ति से अर्थात् संपूर्णतया सुखासन होता ही है। क्योंकि उन्हें उस प्रकार के परिभ्रमण का अभाव होता है। अर्थात् आवश्यक वस्तु प्राप्त हो जाने पर वह परिभ्रमण नहीं करता है, फिर शांत चित्त से, क्षेप दोष बिना धर्म कार्य करता है।

सुखासन के अर्थ को ही कहते हैं-

अत्वरापूर्वकं सर्वं गमनं कृत्यमेव वा
प्रणिधानसमायुक्तमपायपरिहारतः ॥ ६ ॥

- सर्व गमन अत्वरापूर्वक और अपाय के परिहार से सर्व कृत्य प्रणिधान से युक्त ही है।

* इस दृष्टि वाले की सर्व सामान्य देवकृत्य आदि में गमन रूप क्रिया और कृत्य अत्वरापूर्वक होते हैं अर्थात् आकुल-व्याकुलता रहित होते हैं, प्रणिधान अर्थात् मन की एकाग्रता से युक्त होते हैं और दृष्टि आदि भावों में अपाय के परिहार से होते हैं अर्थात् दृष्टि से प्राप्त गुणों में प्रत्यय भी अपाय न हो, इस प्रकार ये कृत्य होते हैं।

* प्र. श्लोक १५ में स्थिरा दृष्टि को प्रणिधानादि आशयों की योनि कहा, तो यहाँ प्रणिधान कैसे आ गया? उ. ये दृष्टि वाले जीव स्वयं की भूमिका अनुसार प्रणिधान करते हैं क्योंकि यहाँ सूक्ष्म बोध तो है नहीं और सूक्ष्म बोध के अभाव में भाव क्रिया यहाँ संभव नहीं है अर्थात् क्रिया तो प्रधान द्रव्य क्रिया ही है इसलिए बोध की प्रयोग काल में कुछ स्मृति होने से भाव क्रिया का यत्न है और यत्न के साथ स्वभूमिका की अपेक्षा प्रणिधान भी है।

DATE ___/___/_____

इस दृष्टि का शुश्रूषा गुण कहते हैं-

कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ यथा
यूनो भवति शुश्रूषा तथाऽस्यां तत्त्वगोचरा ॥52॥

- मनोहर स्त्री से युक्त युवान् को दिव्य गीत सुनने में जैसी शुश्रूषा होती है वैसी शुश्रूषा तत्त्वविषयक शुश्रूषा इस दृष्टि में जीव को होती है।

यह शुश्रूषा इस प्रकार की होती है-

बोधाम्भःस्रोतसश्चैषा सिरातुल्या सतां मता
अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थमसिरावनिकूपवत् ॥53॥

- सत्पुरुषों ने शुश्रूषा को बोध रूपी पानी के प्रवाह के लिए नीक समान मान है। शुश्रूषा के अभाव में सुना हुआ तत्त्व, पानी की नीक नहीं है जिसमें, ऐसी असिरा अवनी में कुएँ खोदने जैसा व्यर्थ है।

* यह शुश्रूषा मुनियों द्वारा बोध रूपी पानी के प्रवाह की नीक समान मानी गई है क्योंकि यह अवन्ध्य और अक्षय ज्ञान के बीज समान है अर्थात् अवन्ध्य = अवश्य फल देने वाला, अक्षय = जब तक फल नहीं मिले तब तक सतत ज्ञान देने वाला, ऐसे अवन्ध्य और अक्षय बीज समान शुश्रूषा मुनियों को इष्ट है क्योंकि जैसे सिरा युक्त जमीन में खोदने से पानी अवश्य मिलता है, वैसे ही ऐसी शुश्रूषा युक्त जीव को श्रवण कराने से फल अवश्य मिलता है।

* जैसे सिरा बिना की जमीन पर कुआँ खोदने से, वह कार्य व्यर्थ होता है, मात्र श्रम रूपी फल देने वाला होता है। वैसे ही शुश्रूषा बिना के जी को तत्त्वश्रवण भी व्यर्थ, श्रम फल देने वाला है क्योंकि जैसे पानी रूपी फल नहीं मिलने से कुआँ खोदना, न खोदने के समान है; वैसे शुश्रूषा नहीं होने से श्रवण, न श्रवण के समान है।

यहाँ व्यतिरेक कहते हैं अर्थात् श्रवण न हो सिर्फ शुश्रूषा हो, तो उसके फ

DATE ___/___/___

का कथन करते हैं-

श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः शुभभावप्रवृत्तितः
फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात्परबोधनिबन्धनम् ॥५४॥

-श्रवण के अभाव में भी शुश्रूषा होने पर शुभ भाव की प्रवृत्ति होने के कारण श्रेष्ठ बोध का कारण ऐसा कर्मक्षय नामक फल होता है।

* प्र. श्रवणाभाव में भी शुश्रूषा होने पर शुभ भाव की प्रवृत्ति कैसे होती है? उ. क्योंकि शुश्रूषा के भाव का ही अर्थात् शुश्रूषा के परिणाम का ही शुभत्व है अर्थात् शुश्रूषा गुण प्रगट होना ही शुभ भाव है।
* प्र. सिर्फ शुश्रूषा गुण होने पर कर्मक्षय फल कैसे होता है? उ. वचन की प्रमाणिकता से अर्थात् 'आगम वचन ही प्रमाण है' ऐसी दृढ़ श्रद्धा से।
* प्र. शुश्रूषा से कर्म क्षय होते हैं, ऐसा हम कैसे कह सकते हैं? उ. वचन के प्रामाण्य से अर्थात् आगमों में ऐसा कहा है इसलिए उन वचन की प्रामाणिकता से हम ऐसा कह सकते हैं।

योग में अक्षेप गुण को कहते हैं-

शुभयोगसमारम्भे न क्षेपोऽस्यां कदाचन
उपायकौशल्यं चापि चारु तद्विषयं भवेत् ॥५५॥

-इस दृष्टि में शुभ योग के सेवन में क्षेप दोष कभी नहीं होता और शुभ योग की प्रवृत्ति विषयक उपाय कौशल्य होता है।

* इस दृष्टि में उस प्रकार के ध्यानादि में, शुभ योग के समारम्भ में क्षेप दोष नहीं होता अर्थात् मन आकुलता-व्याकुलता रहित होता है, शांत होता है।
* शुभ योग के समारंभ में उस प्रकार का देश-आसन आदि रूप उपाय का कौशल्य होता है अर्थात् जीव को उस प्रकार का प्रणिधान होने के कारण वह योग करते हुए देश (आसपास का स्थान), आसन (मुद्रादि) का ध्यान रखता है।

DATE __/__/____

इसी दृष्टि में अक्षेप और उपायकौशल के साथ आने वाले अन्य गुण भी कहते हैं-

परिष्कारगतः प्रायो विघातोऽपि न विद्यते
अविघातश्च सावद्यपरिहारान्महोदयः ॥56॥

- इस दृष्टि में जीव को उपकरण संबंधी विघात भी प्रायः नहीं होता और सावद्य के त्याग से यह अविघात भी महान् उदय वाला होता है।

* विघात - इच्छा प्रतिबंध। इस दृष्टि में जीव को उपकरण में मूर्च्छा बहुलतया नहीं होती, किसी जीव को निमित्त विशेष से हो भी सकता है।
* यह विघात का अभाव, मूर्च्छा का अभाव सावद्य कार्य के परिहार से अर्थात् उपकरण संयम का कारण बने इस प्रकार उपयोग करे आदि क्रिया रूपी अथवा 'मुझे ऐसी Design वाला उपकरण चाहिए' आदि द्रव्य रूपी प्रतिषिद्ध वस्तु के परिहार से महान् उदय वाला है अर्थात् अभ्युदय और मोक्ष का हेतु है।

वत्या दृष्टि का विकासक्रम

* असत् तृष्णा का त्याग
* अत्वरापूर्वक क्रिया करना
* मन की एकाग्रता
* शुश्रूषा गुण से शुभ भाव प्रवृत्ति
* शुभ योगों में उपाय कौशल्य
* उपकरणादि की मूर्च्छा का त्याग
* सावद्य के त्याग पूर्वक उपकरण का उपयोग

दीप्रा दृष्टि

प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम्
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधविवर्जिता ॥57॥

DATE ___/___/___

- यह दीप्रा नामक चौथी दृष्टि प्राणायाम नामक चौथे योगांग वाली है, योग के उत्थान नामक दोष वाली नहीं है, तत्त्वश्रवण गुण से युक्त, और सूक्ष्मबोध रहित है।

* यह दीप्रा दृष्टि प्राणायाम वाली होती है अर्थात् भाव रेचक आदि होने से चतुर्थ योगांग प्राणायाम की यहाँ प्राप्ति होती है।

* यह दृष्टि योग के उत्थान वाली नहीं होती अर्थात् उत्थान दोष का अभाव यहाँ होता है। क्योंकि यहाँ जीव को उस प्रकार की प्रशान्त वाहिता (प्रवाह) प्राप्त हो गई है इसलिए उसे क्रिया-अनुष्ठान से ऊब नहीं होती।

* इस दृष्टि में तत्त्वश्रवण नाम का गुण प्रगट होता है जो पूर्व की दृष्टि के शुश्रूषा गुण का फल है। जीव को शुश्रूषा होती है फिर ही वह श्रवण करता है।

* सूक्ष्मबोधविवर्जित- सूक्ष्म अर्थात् निपुण बोध से रहित यह दृष्टि होती है क्योंकि जीव में अभी भी मिथ्यात्व है।

भावरेचकादि गुण को कहते हैं

प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः सत्यामस्यामसंशयम्
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसङ्कटे ॥58॥

- इस दृष्टि के होने पर जीव धर्म को प्राणों से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानता है। धर्म के लिए वह प्राण त्याग करता है किंतु प्राण संकट में भी धर्म त्याग नहीं करता।

* प्राण- इंद्रिय आदि 10 प्राण

* इस दृष्टि के होने पर प्राणों से भी महत्त्वपूर्ण धर्म बिना किसी संशय के जीव मानता है।

* यह धर्म के लिए प्राणों को त्याग देता है किंतु प्राण संकटे में भी उस प्रकार की उत्सर्ग प्रवृत्ति से धर्म त्याग नहीं करता अर्थात् वह अपवाद

DATE __/__/____

को सेवन नहीं करता, उत्सर्ग मार्ग में स्थिर रहता है।

धर्म में प्रतिबंध, राग के कारण को कहते हैं-

एक एव सुहृद्धर्मो मृतमप्यनुयाति यः
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥59॥

- धर्म ही एक ऐसा मित्र है, जो मृतव्यक्ति का भी अनुसरण करता है। अन्य सभी तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है।

★ धर्म ही जीव का एकमात्र मित्र है क्योंकि मित्र के लक्षणों का योग धर्म में ही है।

★ मित्र के लक्षण कहते हैं- जो मृत व्यक्ति के भी अनुसरे, वह सच्चा मित्र होता है।

★ अन्य सर्व- माता-पिता, पत्नी-पुत्र, स्वजन, धन-संपत्ति शरीर के साथ यहीं पर नष्ट हो जाता है।

★ इस प्रकार की समझ चौथी दृष्टि में जीवों को आ जाती है, इसलिए वे धर्म में स्थिर होते हैं।

इत्थं सदाशयोपेतस्तत्त्वश्रवणतत्परः
प्राणेभ्यः परमं धर्मं बलादेव प्रपद्यते ॥60॥

- इस प्रकार सद् आशय से युक्त, तत्त्वश्रवणतत्पर ऐसा यह योगी धर्म को प्राण से भी परम स्वभाव से ही स्वीकारता है।

★ वह तत्त्वश्रवण में ही तत्पर रहता है तथा प्रधान रूप से श्रवण करता है।

★ प्राण से भी अधिक धर्म को उस प्रकार का स्वभाव होने से स्वीकारता है, इस कारण ही योग में उत्थान दोष यहाँ संभव नहीं है।

तत्त्वश्रवण गुण को कहते हैं-

DATE ___/___/___

क्षाराम्भस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदकयोगतः
बीजं प्ररोहमाप्नोति तद्वत्तत्त्वश्रुतेर्नरः ॥61॥

- जैसे खारे पानी के त्याग से और मधुर पानी के योग से बीज अंकुर को उत्पन्न करता है वैसे तत्त्व सुनने से मनुष्य भी विकास करता है।
क्षार वाले पानी का त्याग और मधुर पानी का योग होने पर बीज को स्पष्ट संवेदन से उसके माधुर्य का ज्ञान नहीं होता है और मधुरता का ज्ञान नहीं होने पर भी वह विकास पाता है।
वैसे ही सूक्ष्मबोध रहित होने से जीव को इस दृष्टि स्पष्ट बोध नहीं है किंतु तत्त्वश्रवण से कुछ-कुछ बोध स्पष्ट होता है। इस बोध से ही वह मनुष्य विकसित होता है। क्योंकि तत्त्वश्रवण का अचिंत्य सामर्थ्य होने से वह महा प्रभाव वाला है।

इसके श्लोक के भावार्थ को कहते हैं-

क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलो मतः
मधुरोदकयोगेन समा तत्त्वश्रुतिस्तथा ॥62॥

- यहाँ संपूर्ण भवयोग खारे पानी समान है और तत्त्वश्रुति मधुर पानी के योग समान है।
श्लोक 61 में खारे पानी समान समस्त भव योग यानि संसार का योग माना है। प्र. संसार का योग तो योगियों को भी है, फिर समस्त संसार का योग खारे पानी समान कैसे होगा? उ. योगी यदि अतत्त्व का श्रवण करते हैं तो वह भी भवयोग है।
- तत्त्वश्रवण, वह मधुर उदक समान है क्योंकि तत्त्वश्रवण भी योग का एक अंग है।

तत्त्वश्रुति के गुण को कहते हैं-

DATE __/__/____

अतस्तु नियमादेव कल्याणमखिलं नृणाम्
गुरुभक्तिसुखोपेतं लोकद्वयहितावहम् ॥63॥

- इस तत्त्वश्रवण से मनुष्यों का गुरु भक्ति सुख से युक्त और दोनों लोक का हित करने वाला ऐसा संपूर्ण कल्याण नियमा होता है।

★ तत्त्वश्रुति से मनुष्यों को अखिल कल्याण होता है। अर्थात् तत्त्वश्रुति का उस प्रकार का आशय होने से परोपकारादि कल्याण नियम से अवश्य होते हैं। तत्त्वश्रवण से उसे जो बोध होता, उस बोध से उसे परोपकारादि सर्व उचित कृत्य करने के लिए परिणाम वाला बनता है।

★ गुरुभक्तिसुखोपेत- वह जीव सोचता है कि जिन गुरु से मुझे यह बोध मिला वह मेरे उपकारी हैं' इस प्रकार उसे गुरु प्रति भक्ति का भाव जागृत होता है। वह गुरु भक्ति को ही परम सुख मानता है। इस प्रकार गुरु भक्ति को सुख मानता हुआ वह कल्याण रूप कृत्यों को गुरु आज्ञा से ही करता है क्योंकि गुर्वाज्ञा द्वारा किए हुए परोपकारादि कृत्यों का कल्याणत्व है अर्थात् गुर्वाज्ञा बिना किए हुए कृत्य कल्याणकारी नहीं है।

★ इस कारण से ही वह कृत्य रूपी कल्याण लोक द्वय के हित को लाने वाले हैं- अर्थात् वह इसलोक और परलोक दोनों का हित करने वाला है क्योंकि अनुबंध गुरुभक्ति से साध्य है अर्थात् शुभ कर्मों का अनुबंध, जो परलोक में भी हितावह है, वह गुरु भक्ति से उपार्जित होता है।

इस अनुबंध के फल को विशेष से कहते हैं-

गुरुभक्तिप्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतम्
समापत्त्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥64॥

- गुरु भक्ति के प्रभाव से समापत्ति आदि भेद से, निर्वाण का एक मात्र कारण रूप ऐसा तीर्थंकर का दर्शन जीव को होता है।

★ गुरु भक्ति के प्रभाव से अर्थात् गुरु भक्ति से उपार्जित कर्म के विपाक से तीर्थंकर भगवान् का दर्शन होता है।

DATE ___/___/___

तीर्थंकर भगवान् का दर्शन कैसे होता है? उ. समापत्त्यादिभेदेन अर्थात् समापत्ति आदि भेदों से। समापत्ति = ध्यान से स्पर्शना; ध्यान, ध्याता और ध्येय का अभेद। आदि शब्द से तीर्थंकर नामकर्म का बंध, उसका विपाक, उसकी भाव से आपत्ति अर्थात् प्राप्ति ग्रहण करना है।
निर्वाणैकनिबन्धन- अ मोक्ष का अवन्ध्य, असाधारण कारण।

श्लोक 57 में कथनानुसार प्राणायाम, योगोत्थान, तत्त्वश्रवण समझाने के बाद इस दृष्टि में प्रतिषिद्ध सूक्ष्म बोध के लक्षण कहते हैं-

समापत्त्यादिभेदेन त्योके यस्तत्त्वनिर्णयः
वेद्यसंवेद्यपदतः सूक्ष्मबोधः स उच्यते ॥६५॥

हेतु आदि भेद द्वारा, वेद्यसंवेद्य पद से विद्वानों की सभा में सम्यग् रीति से जो तत्त्वनिर्णय, वह सूक्ष्मबोध कहलाता है।
सम्यग्- अविपरीत विधि से
हेतुआदि भेद- हेतु, स्वरूप, फल
त्योक - विद्वान् की सभा में
सूक्ष्मबोध - निपुण बोध

सूक्ष्म बोध के प्रवृत्ति निमित्त अर्थात् प्रगट होने के निमित्त को विशेष से कहते हैं-

भवाम्भोधिसमुत्तारात्कर्मवज्रविभेदतः
ज्ञेयव्याप्तेश्च कात्स्न्र्येन सूक्ष्मत्वं नायमत्र तु ॥६६॥

भव समुद्र से तिराने वाला होने से, कर्म वज्र का भेद होने से और ज्ञेय पदार्थ की संपूर्णतया व्याप्ति होने से सूक्ष्मत्व होता है, किंतु यह सूक्ष्म बोध यहाँ दीप्रा दृष्टि में नहीं होता।
भवाम्भोधिसमुत्तार- यह सूक्ष्म बोध जीव को संसार समुद्र से तिराने वाला होता है क्योंकि यह लोकोत्तर प्रवृत्ति का हेतु है अर्थात् जीव को सूक्ष्म बोध प्रगट

DATE ___/___/_____

होने के बाद, वह जीव लोकोत्तर प्रवृत्ति में जुड़ जाता है।

★ कर्मवज्रविभेद- यह सूक्ष्म बोध वज्र जैसे कठोर कर्मों का विभेद करने वाला है। यहाँ भेद की जगह विभेद इसलिए लिखा है क्योंकि इस विभेद के बाद वह जीव ऐसे कठोर कर्म फिर से कभी नहीं बाँधता है।

★ ज्ञेय व्याप्ति- यह भी ज्ञेय की व्याप्ति का कारण होता है। ज्ञेय- संसार के सभी जानने योग्य पदार्थ, जिसमें कुछ इंद्रियों द्वारा जान सकते हैं और कुछ श्रद्धा का विषय हैं। ऐसे ज्ञेय पदार्थ अनन्त धर्मात्मक प्रभु ने कथन किए हैं अर्थात् वे अनन्त धर्म, स्वभाव, गुण वाले हैं। ऐसे ज्ञेय पदार्थों को जिनवाणी से सुनकर सूक्ष्मबोध वाला जीव स्वीकार करता है, अर्थात् उन पर श्रद्धा करता है, भले ही वे पदार्थ साक्षी से सिद्ध न हो किंतु वह स्वीकार करता है। वह व्याप्ति से अर्थात् संपूर्णतया स्वीकारता है, मात्र एकादि देश से नहीं

★ जो बोध जीव को संसार से तिराने वाला हो, जो वज्र कर्म का विभेद करने वाला हो और जो ज्ञेय पदार्थ की श्रद्धा कराता हो, उस बोध का ही सूक्ष्मत्व, निपुणत्व कहा गया है।

★ ऐसा सूक्ष्म बोध जीव को दीप्रा दृष्टि और नीचे की तीन दृष्टि अर्थात् प्रथम चार दृष्टि में नहीं होता है। क्योंकि इन चार दृष्टि में ग्रंथिभेद की असिद्धि है।

प्रथम चार दृष्टि में अवेद्यसंवेद्यपद होने से सूक्ष्म बोध संभव नहीं है, ऐसी बात समझाते हैं-

अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्बणम्
पक्षिच्छायाजलचर-प्रवृत्त्याभमतः परम् ॥६७॥

- पक्षि छाया में जलचर की प्रवृत्ति समान अवेद्यसंवेद्यपद, उस प्रकार की प्रबलता (प्रथम चार दृष्टि में) है, जिस इसलिए तात्विक वेद्यसंवेद्यपद यहाँ नहीं है।

★ मित्रादि चार दृष्टियों में अवेद्यसंवेद्यपद निवृत्ति आदि पद प्रकार से प्रबलता उद्भूत होता है। अर्थात् अवेद्यसंवेद्यपद की क्रमशः निवृत्ति होती है, और

DATE ___/___/___

वेद्यसंवेद्यपद की प्रवृत्ति क्रमशः दृष्टियों में होती है किंतु इन निवृत्ति आदि के पद, आशय स्थान के प्रकारों से अवेद्यसंवेद्यपद प्रथम चार दृष्टि में प्रबल होता है अर्थात् प्रथम चार दृष्टि अवेद्यसंवेद्य पद की निवृत्ति अधिक नहीं होती, प्रवृत्ति अधिक होती है। अथवा (दूसरा अर्थ) प्रथम चार जीव की दृष्टि में ~~अब~~ निवृत्ति भी हो सकती है अर्थात् वह नीचे भी गिर सकता है।

पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्त्याभं - पक्षी की छाया में पक्षी की बुद्धि से जलचर की प्रवृत्ति समान ~~अतात्त्विक~~ यहाँ अवेद्यसंवेद्य पद है (तद्) अर्थात् जैसे जलचर पानी के ऊपर उड़ते हुए पक्षी की छाया को (पक्षी) जलचर समझकर प्रवृत्ति करता है, वैसे ही यहाँ जीव को अवेद्यसंवेद्य पद होता है, ~~वे~~ जीव को अतात्त्विक वेद्यसंवेद्य पद होता है, वेद्यसंवेद्य पद की भ्रान्ति होती है।

अथवा (दूसरा अर्थ)

पानी में पर पक्षी की छाया को देखकर जैसे किसी को जलचर की प्रवृत्ति का भ्रम होता है, वैसे ही चार दृष्टि में जीव को 'मुझे बोध है, वेद्यसंवेद्य पद है' इस प्रकार के भ्रम स्वरूप अतात्त्विक वेद्यसंवेद्य पद होता है।

* प्रथम चार दृष्टि में ग्रंथि भेद की असिद्धि के कारण तात्त्विक वेद्यसंवेद्यपद नहीं होता।

* यह वेद्यसंवेद्य पद अंतिम चार दृष्टि में चरम यथाप्रवृत्तकरण से ही आता है, इस प्रकार आचार्य कहते हैं।

अवेद्यसंवेद्यपद में रहे जीव को सूक्ष्मबोध नहीं होता, ऐसा क्यों? वह कहते हैं-

अपायशक्तिमालिन्यं सूक्ष्मबोधविबन्धकृत्
नैतद्वतोऽयं तत्त्वे कदाचिदुपजायते ॥६८॥

अपायशक्ति वाला मलिनत्व सूक्ष्मबोध को अटकाने वाला है। इसलिए मलिनता युक्त आत्मा को तत्त्व में सूक्ष्मबोध नहीं होता।

* अपायशक्तिमालिन्य- अपाय यानि दुःख। नरक आदि गति के दुःख देने वाला जो क्लिष्ट कर्म है (प्रायः अनंतानुबंधि कषाय) वह अभी जीव के ~~न~~ साथ जुड़ा

DATE ___/___/_____

हुआ है, उस कर्म को ही उपचार से यहाँ अपाय कहा है। ऐसा कर्म रूप अपाय शक्ति स्वरूप में यानि बीज स्वरूप में भी, अंशतः भी यदि आत्मा में है तो वह मलिनता तो लाता ही है। इसलिए वह मलिनता ही सूक्ष्मबोध को रोकने वाली है क्योंकि जीव में मलिनता शक्य होने पर अपाय के हेतु रूप विपरीत प्रवृत्ति का आसेवन कराने वाला क्लिष्ट कर्म बीज रूप में जीव में है।

★ इस कारण से (तत्) इस मलिनता से युक्त आत्मा को तत्त्व के विषय में यह सूक्ष्म बोध कभी प्रगट नहीं होता किंतु मोक्ष का अवन्ध्य कारण ऐसा स्थूल बोध रूप बीज होता है।

स्थूल बोध का बीज होने से क्या होता है, वह कहते हैं -

अपायदर्शनं तस्माच्छ्रुतदीपान्न तात्त्विकम्
तदाभात्यम्बनं त्वस्य तथा पापे प्रवृत्तितः ॥६७॥

- इस कारण से इस योगी को आगम रूप दीप से तात्त्विक रीति से अपाय दर्शन नहीं होता किंतु पाप में प्रवृत्ति होने से परमार्थ की आभा जैसा आलंबन मात्र होता है।

★ इस दृष्टि वाले जीव को (अस्य) आगम रूपी दीपक से अपाय दर्शन अर्थात् दोष का दर्शन, मलिनता का दर्शन पारमार्थिक रूप से नहीं होता है।

★ इस जीव को भ्रान्ति से ही ही परमार्थ का आभास होता है अर्थात् वह समझता है कि 'मुझे सूक्ष्मबोध है, वेद्यसंवेद्यपद है' किंतु तात्त्विक रीति से वह होता नहीं है।

★ प्र. उसे सूक्ष्म बोध क्यों नहीं होता? उ. क्योंकि उस जीव की अनाभोग से पाप में प्रवृत्ति होती है अर्थात् मलिनता के कारण अजानते भी वह पाप में प्रवृत्ति करता है।

अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात्पापे कर्मगसोऽपि हि
तप्तलोहपदन्यास - तुल्या वृत्तिः क्वचिद् यदि ॥७०॥

DATE ___/___/_____

- इस अवेद्यसंवेद्य पद से अन्य वेद्यसंवेद्य पद पीछे की चार दृष्टि में होता है। कर्म के अपराध से यदि जीव को पाप में प्रवृत्ति करना भी पड़े तो वेद्यसंवेद्य पद होने के कारण वह तपे हुए लोहे के गोले पर कदम रखने जैसी होती है।

* वेद्यसंवेद्यपद स्थिरादि चार दृष्टि में होता है।

* इन दृष्टि में रहा जीव प्रायः पाप में प्रवृत्ति करता ही नहीं है किंतु यदि कभी कर्म के अपराध के कारण अर्थात् कर्म के उदय से कोई वृत्ति हिंसादि पाप में करता भी है तो वह तपे हुए लोहे के गोले पर कदम रखने जैसी होती है अर्थात् जैसे तपे हुए लोहे पर कोई कदम नहीं रखता, रखना पड़े तो अचकाते-अचकाते, डरते डरते रखता है वैसे ही यहाँ पाप में प्रवृत्ति जीव करता ही नहीं है, करना पड़े तो वह भारी मन से रोते-रोते करता है और आवश्यक कार्य पूर्ण होने तुरंत पाप से पीछे हट जाता है।

- यहाँ अनाभोग से भी पाप प्रवृत्ति होने की संभावना नहीं है।

यह पाप प्रवृत्ति इस प्रकार की कैसे होती है, वह समझाते हैं-

वेद्यसंवेद्यपदतः संवेगातिशयादिति
चरमैव भवत्येषा पुनर्दुर्गत्ययोगतः ॥७॥

- वेद्यसंवेद्यपद होने से, संवेग के अतिशय से यह प्रवृत्ति अंतिम होती है क्योंकि फिर से दुर्गति का अयोग है।

* वेद्यसंवेद्यपद से संवेग के अतिशय से यह पाप प्रवृत्ति अंतिम होती है। क्योंकि श्रेणिक आदि उदाहरण से पुनः दुर्गति का अयोग है अर्थात् ये जीव दुर्गति में नहीं जाने वाले।

- पूर्वपक्ष - सम्यग्दर्शन से गिरे हुए जीव अनन्त संसार वाले होते हैं, और अनंत संसार में जीव को अनेक बार दुर्गति का योग होता है इसलिए उपरोक्त कथन अर्थ बिना है (यत् किंचिद्) ?

उत्तर पक्ष- नहीं, यह कथन सही है, क्योंकि आप अभी हमारे अभिप्राय का

DATE ___/___/_____

परिज्ञान, भाव नहीं समझें। नैश्चयिक वेद्यसंवेद्य पद क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव को ही है। व्यवहारिक वेद्यसंवेद्यपद अर्थात् क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शन भी सुंदर है क्योंकि वेद्यसंवेद्य पद होने पर प्रायः दुर्गति में भी जीव को मानसिक दुःख का अभाव होता है अर्थात् मानसि समाधि होती है। वज्र के चावल को अनेक प्रकार की अग्नि से योग से भी पाक नहीं होता, वैसे इस जीव को ~~भी~~ भाव के पाक का अयोग है अर्थात् उसके भाव पलटते नहीं है।
इस वेद्यसंवेद्य पद से अन्य यानि अवेद्यसंवेद्य पद एकान्त से असुंदर ही है।

अवेद्यसंवेद्यपदमपदं परमार्थतः
पदं तु वेद्यसंवेद्यपदमेव हि योगिनाम् ॥72॥

- अवेद्यसंवेद्यपद परमार्थ से अपद है, योगियों का वेद्यसंवेद्यपद ही परमार्थ से पद है।

★ अवेद्यसंवेद्यपद अर्थात् मिथ्यादृष्टि का आशय स्थान परमार्थ से अपद ही है क्योंकि यथावस्थित वस्तु तत्व का अनापादान है अर्थात् जो वस्तु जिस स्वरूप में है, उस वस्तु के स्वरूप का वहाँ बोध नहीं है।

★ वेद्यसंवेद्यपद ही परमार्थ से पद है क्योंकि वहाँ पद शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ घटित होता है। पद यानि आशयस्थान अर्थात् पद् धातु गति अर्थ में, गति अर्थ वाले धातु प्राप्ति, बोधार्थ में भी होते हैं। इसलिए पद यानि यथावस्थित बोध का स्थान। यह व्युत्पत्ति वेद्यसंवेद्यपद में ही घटित है।

वेद्यसंवेद्यपद का अर्थात् लक्षण कहते हैं -

वेद्यं संवेद्यते यस्मिन्नपायादिनिबन्धनम्
तथाऽप्रवृत्तिबुद्ध्यापि स्त्र्याद्यागमविशुद्धया ॥73॥

- जिस पद में स्त्री आदि वेद्य वस्तु अपायादि के कारण हैं ऐसा अप्रवृत्तिबुद्धि आगम विशुद्ध बुद्धि से शास्त्र ज्ञात हो, वह वेद्यसंवेद्यपद कहलाता है।

DATE ___/___/_____

वेद्य - वेदनीय ज्ञेय, जानने योग्य पदार्थ। जो विषय इस प्रकार के भाव योगी द्वारा सामान्य से अविकल्प ज्ञान में ग्रहण करने योग्य है, वह वेद्य।

संवेद्यते - क्षयोपशम के अनुरूप निश्चय बुद्धि से ज्ञात हो।

भावार्थ - ज्ञेय पदार्थ जिस पद में भाव योगी के द्वारा सामान्य से निर्विकल्प ज्ञान से ~~ज्ञात~~ वस्तुस्थिति के द्वारा ज्ञात हो अर्थात् जिस वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही जाने, देखें और स्वयं के क्षयोपशम अनुसार निश्चय करे, वह पद वेद्यसंवेद्यपद कहलाता है।

यहाँ पर विशेष इतना है कि ग्रंथकर्ता हरिभद्रसूरि म. ने ज्ञान और दर्शन को अत्यग नहीं किया, सामान्य से सभी दृष्टि में बोध शब्द से दोनों का ग्रहण किया है तथा यहाँ भी वेद्य संवेद्य पद में ज्ञान और दर्शन दोनों का ग्रहण है क्योंकि दोनों हैं तो जीव के उपयोग ही, इसलिए उन्होंने सामान्य उपयोग और विशेष उपयोग का भेद नहीं किया। अतः हम सामान्य से वेद्य संवेद्य पद को जीव की सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान वाली अवस्था स्वीकार सकते हैं।

वेद्य संवेद्य पद में रहे जीव का बोध कैसा होता है, उसका उदाहरण देते हैं - स्त्री आदि अपायादि के कारण हैं। स्त्री आदि में आदि से धर्म का ग्रहण और अपायादि में आदि से स्वर्ग - मोक्ष का ग्रहण करते हैं। वह जीव इतना निश्चय बुद्धि से समझता है कि स्त्री अपाय, नरक, दुःख का कारण है और धर्म मोक्ष, स्वर्ग सुख का कारण है।

वह जीव किस हेतु से यह बोध पाता है, वह कहते हैं -

आगम विशुद्धया - वह जीव यह बोध स्वयं की मतिकल्पनाओं से प्राप्त नहीं करता किंतु जिज्ञासा, श्रवणादि गुणों से उसने जो श्रुत ज्ञान प्राप्त किया है, उस श्रुत ज्ञान से दूर हो गई गया है विपर्यास। विपरीत मत जिसका ऐसी बुद्धि से वह बोध प्राप्त करता है।

~~तथाऽमुक्ति बुद्ध्यापि - जिस प्रकार सामान्य से स्त्री आदि के साथ संबंध से उस~~

DATE ___/___/_____

तथाऽप्रवृत्तिबुद्ध्यापि- जिस प्रकार से (येन) स्त्री आदि वेद्य पदार्थ सामान्य से संबंधित हो उस प्रकार की अप्रवृत्तिबुद्धि से वह बोध पामता है। ~~अर्थात्~~ अप्रवृत्ति = हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण करने के आशय वाली बुद्धि। यहाँ उदाहरण में स्त्री को मुख्य लिया है इसलिए हेय पदार्थ के कारण अप्रवृत्ति मुख्य लिखा है।

यह बोध पामने के बाद वह जीव, जिस प्रकार से संबंध कम हो सके, उस प्रकार से वह ~~संबंध~~ सामान्य से संबंध करता है अर्थात् संबंध कम कर देता है।

★ प्र. उदाहरण में मुख्य रूप से स्त्री को क्यों रखा गया? उ. क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषों के लिए भी यही बंध का प्रधान कारण है।

जिस पद में वेद्य पदार्थ आगम विशुद्ध बुद्धि से संवेदन किए जाते हैं, इस एक श्लोक 73 के संबंध को आगे कहते हैं-

तत्पदं साध्ववस्थानाद् भिन्नग्रन्थ्यादिलक्षणम्
अन्वर्थयोगतस्तन्त्रे वेद्यसंवेद्यमुच्यते ॥74॥

- यथावस्थित बोध होने के कारण अन्वर्थ का योग होने से सिद्धांत में भिन्न ग्रंथि आदि लक्षण वाला पद वेद्यसंवेद्य कहलाता है।

★ पद - आशय स्थान - सुंदर ऐसे आशय का स्थान। ~~सम्यग् अवस्था~~

★ परिच्छेद यानि बोध होने से सम्यग् अवस्थान के द्वारा अर्थात् बोध के लिए आधार रूप बनने द्वारा यहाँ अन्वर्थ का योग है अर्थात् पद शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ का योग है।

★ ऐसा व्युत्पत्ति अर्थ का योग होने से उस पद को वेद्यसंवेद्यपद कहा जाता है, जो भिन्नग्रंथि आदि लक्षण वाला है।

अवेद्यसंवेद्यपद से अन्य ऐसे अवेद्यसंवेद्यपद को कहते हैं-

DATE __/__/____

अवेद्यसंवेद्यपदं विपरीतमतो मतम्
भवाभिनन्दिविषयं समारोपसमाकुलम् ॥75॥

- वेद्यसंवेद्यपद से विपरीत मत वाला, भवाभिनंदी जीवों के विषय वाला और समारोप करने में आकुल ऐसा अवेद्यसंवेद्यपद योगियों द्वारा माना गया है।

अवेद्यसंवेद्यपद वेद्यसंवेद्य पद से विपरीत मत वाला माना गया है। वह इस प्रकार - इस पद में अवेद्य पदार्थ, अवेदनीय, नहीं जानने योग्य पदार्थ संवेदन किए जाते हैं, अर्थात् भावयोगी द्वारा सामान्य से अविकल्पक ज्ञान ग्राह्य, जो वस्तु स्थिति से जो पदार्थ नहीं है वह अवेद्य। क्योंकि उस प्रकार के समान परिणाम की उपपत्ति नहीं है। भावार्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव जिस प्रकार वेद्य पदार्थ का संवेदन करता है, उससे विपरीत यह जीव संवेदन करता है अर्थात् हेय को उपादेय तथा उपादेय को हेय जानता है।

संवेद्यते - यहाँ संवेदन अज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार होता है। प्र. कर्म प्रकृति में तो ज्ञानावरणीय कर्म ही आते हैं, अज्ञानावरण कर्म कहाँ से आए? उ. अज्ञान का अर्थ यहाँ विपरीत ज्ञान लेना है। 'ज्ञान का अभाव' ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करना है। इस विपरीत ज्ञान भी होता है तो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से ही किंतु मिथ्यात्व के कारण वह विपरीत हो जाता है, इस अपेक्षा से यहाँ अज्ञानावरण कर्म लिखा है।

वह जीव कैसे विपरीत ज्ञान प्राप्त करता है, वह कहते हैं -

उपप्लवसार निश्चयबुद्ध्या - यहाँ भी होती तो निश्चित बुद्धि ही है किन्तु यहाँ पदार्थ का निर्णय सम्यग्दृष्टि जीव से तद्दन विपरीत होता है। यह बुद्धि भी उपप्लव के सार वाली होती है अर्थात् उपद्रव है सार जिसका, जिस बुद्धि से जीव को संसार में उपद्रव प्राप्त है, ऐसी यह बुद्धि होती है। जैसे - मृगतृष्णा = रेगिस्तान में मृग पानी की बुद्धि से दूर-दूर दौड़ता है किंतु उसे दौड़ने के परिश्रम सिवाय कुछ नहीं मिलता, वैसे ही यहाँ

DATE ___/___/_____

जीव विपरीत ज्ञान से सुख के लिए बहुत मेहनत करता है किंतु उसे दुःख सिवाय कुछ नहीं मिलता।

★ इन सब कारणों से ही यह पद भवाभिनंदी जीव के विषय वाला है।

★ समारोप समाकुल्य - मिथ्यात्व के दोष से ~~वह~~ जीव यह पद अपायगमन के अभिमुख है अर्थात् जीव को नरकादि दुःखों की प्राप्ति के अभिमुख करने वाला है।

समारोप- मिथ्यात्व के कारण परवस्तु में स्वत्व का, स्वपन का आरोप करना। ऐसे समारोप से आकुल्य, व्याप्त यह पद है।

भवाभिनंदी जीव के लक्षण कहते हैं-

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसङ्गतः॥७॥

-भवाभिनंदी जीव क्षुद्र, लाभरति, दीन, मत्सर वाला, भयवाला, शठ, अज्ञ और निष्फलारंभ से युक्त होता है।

★ भवाभिनंदी- भव का अभिनंदी, भव=संसार पर अभिनंदन=बहुमान है जिसे संसार, सांसारिक सुख प्रिय है जिसे वह भवाभिनंदी जीव।

★ भवाभिनंदी जीव के ४ लक्षण-

(i) क्षुद्र = कृपण, कंजूस, धन होने पर भी नहीं भोगने वाला। साधु की अपेक्षा स्वयं की वस्तु, पात्र आदि दूसरे को नहीं देने वाला।

(ii) लाभरति= याञ्चाशील, माँगने का स्वभाव है जिसका। जहाँ भी भौतिक पदार्थ मिले, वहाँ वह माँगने पहुँच जाता है। साधु की अपेक्षा- आवश्यक वस्तु सिवाय भी अनावश्यक वस्तुएँ गृहस्थ के पास माँगता है, जरा भी संकोच नहीं करता।

(iii) दीन= हमेशा अकल्याण ही देखने वाला। अकल्याण के कार्य ही करने वाला। साधु की अपेक्षा- सद्गुरु का संयोग होने पर भी स्वयं का अकल्याण करने वाला।

(iv) मत्सरी= दूसरे के कल्याण से दुःखी होने वाला। दूसरे की संपत्ति, सुख, मान सम्मान

DATE ___/___/___

बढ़ता हुआ देख उससे ईर्ष्या करने वाला। साधु की अपेक्षा- गुणवान् साधुओं की ईर्ष्या करने वाला, उनके दोष देखने वाला है।

(v) भयवान् = नित्य हमेशा भयभीत रहने वाला। संसार के सुख के लिए अथवा दूसरे की ईर्ष्या से माया, कपट, झूठ बोलना आदि पाप करने वाला तथा मेरे ये पाप किसी को खबर न पड़े, इस प्रकार के भय वाला। साधु की अपेक्षा- 'मैं श्रद्धा रहित हूँ, मैं द्रव्य साधु हूँ' ऐसे भाव किसी को खबर न पड़े इस प्रकार के भय वाला।

(vi) शठ = मायावी। संसार के सुख के लिए अथवा दूसरे की ईर्ष्या से माया, कपट, ठगाई करने वाला, कहता कुछ है और करता कुछ है। अंदर अत्यंत भाव रहते हैं और बाहर सभी को अच्छा दिखाता है।

(vii) अज्ञानी = मूर्ख। हित-अहित, तत्त्व-अतत्त्व, हेय-उपादेय आदि भावों को नहीं समझने वाला। संसार के सभी कार्य में कुशल्य किंतु आत्महित का उसे कोई भान नहीं होता। स्वमत में कदाग्रह वाला।

(viii) निष्फलारंभ युक्त = वह जो भी कार्य आरंभ करता है, उसमें उसे सफलता नहीं मिलती क्योंकि वह सभी कार्य में अतत्त्व का अभिनिवेश करता है। अर्थात् जहाँ तत्त्व ही नहीं है, वहाँ वह तत्त्व खोजने का प्रयास करता है, जैसे पानी में से मक्खन नहीं निकलता तो भी उसमें से मक्खन निकालने का प्रयास करता है अथवा दूसरा अर्थ यह भी होता है कि जहाँ तत्त्व होता है वहाँ भी वह स्वयं की तुच्छ भावना से अतत्त्व का अभिनिवेश करता है, जैसे- वह धर्म कार्य करता किंतु स्वयं की भौतिक सुख की अपेक्षा से वह उसे मलिन कर देता है।

भवाभिनंदी जीव ऐसा होता है, उसे क्या ?-

इत्यसत्परिणामानुविद्धो बोधो न सुन्दरः
तत्सङ्गादेव नियमाद्विषसम्पृक्तकान्नवत् ॥77॥

- इस प्रकार असत् परिणाम से युक्त भवाभिनंदी जीव का बोध असत् परिणाम

DATE ___/___/_____

से के संग से विष युक्त अन्न की तरह सुंदर नहीं होता।

* अताभिनंदी जीव का परिणाम इस प्रकार का परिणाम असत् परिणाम है। ऐसे असत् परिणाम से युक्त बोध, श्रुतज्ञान सामान्य से सुंदर नहीं है।

प्र. बोध को सामान्य से असुंदर ~~कहा~~ क्यों कहा? उ. क्योंकि विशेष वह बोध सुंदर भी हो सकता है जैसे अभव्य जीव स्वयं की देशना से अनेक जीवों को प्रतिबोधित करता है।

* यह बोध असुंदर किस कारण से होता है? तो कहते हैं- जिस असत् परिणाम की बात पूर्व में की थी, उस असत् परिणाम के संग से वह असुंदर होता है, अर्थात् वह बोध स्वयं जीव के लिए तारक नहीं होने की अपेक्षा से असुंदर है।

* यहाँ दृष्टान्त देते हैं- विष से युक्त अन्न की तरह।

उपरोक्त चर्चा के फल को कहते हैं-

एतद्ह्नोऽत एवेह विपर्यासपरा नराः
हिताहितविवेकान्धाः खिद्यन्ते साम्प्रतेक्षिणः ॥७०॥

- अवेद्यसंवेद्यपद वाले जीव, अवेद्यसंवेद्यपद के कारण ही विपर्यास में तत्पर, हित-अहित के विवेक में अंध और वर्तमानकाल को ही देखने वाले, खेद प्राप्त करते हैं।

* अवेद्यसंवेद्यपद वाले जीव, अवेद्यसंवेद्यपद के कारण ही विपर्यास में प्रधान अथवा विपर्यास है प्रधान जिनको ऐसे विपर्यासप्रधान होते हैं अर्थात् उन्हें तत्त्व-अतत्त्व, हेय-उपादेय, मार्ग-उन्मार्ग आदि पदार्थों में विपरीत ज्ञान होता है।

* हिताहितविवेकान्ध- विपर्यास के कारण ही वे हित और अहित के विवेक से रहित होते हैं अर्थात् वे हितकारी और अहितकारी प्रवृत्ति का विवेक भी उनमें नहीं होता।

* साम्प्रतेक्षिण- वर्तमानकाल को देखने वाले अर्थात् वे मात्र वर्तमानकाल

DATE ___/___/___

के सुख को देखते हैं, किंतु ये सुख शाश्वत नहीं है और भविष्य में दुःख का कारण है, इस प्रकार वे नहीं समझते हैं।

* खिद्यन्ते- वे संसार में खेद प्राप्त करते हैं अर्थात् नरकादि दुःखों को प्राप्त करता है।

और क्या होता है, वह कहते हैं-

जन्ममृत्युजराव्याधिरोगशोकाद्युपद्रुतम्
वीक्षमाणा अपि भवं नोद्विजन्तेऽतिमोहतः ॥७९॥

- जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, रोग, शोकादि से उपद्रवमय संसार को देखते हुए भी ये जीव अतिमोह के कारण वैराग्य नहीं प्राप्त नहीं करते।

* ~~जन्म~~ संसार के सभी जीवों में Common दुःखों का वर्णन यहाँ ग्रंथकार म. करते हैं-

i) जन्म- उत्पन्न होने के लक्षण वाला। गर्भवास के दुःख- नौ मास गर्भ में, अशुचि, दुर्गंधमय पदार्थों में रहना, उल्टे मुख सिर से रहना। फिर प्रसव की वेदना।

ii) मृत्यु- द्रव्य प्राण का आत्मा से वियोग। ~~क्या~~ आत्मा से जब शरीर से बाहर निकलती है तब असह्य वेदना होती है।

iii) जरा- वय की हानि, आयुष्य की हानि। वृद्धत्व में दीनता, परवशता आदि दुःख।

iv) व्याधि- कोढ आदि लक्षण वाले लंबे समय के रोग।

v) रोग- विशुचिका आदि आतङ्क अर्थात् व्याधि की अपेक्षा छोटे रोग।

vi) शोक- इष्ट वियोग आदि से उत्पन्न मन के विकार।

vii) आदि ग्रहण से ग्रहादि का ग्रहण करना अर्थात् भूत प्रेत आदि संसार के जो भी छोटे-मोटे दुःख हैं, वे।

* इस प्रकार अनेक दुःखों से उपद्रवमय, कदर्थित ऐसे संसार को देखते हुए भी भवाभिनंदी जीव उद्वेग नहीं पामते। क्योंकि उन्हें विपर्यास के कारण अति मोह होता है।

DATE ___/___/_____

अवेद्यसंवेद्यपद वाले इन जीवों को कैसा आभास होता है, वह कह रहे हैं-

कुकृत्यं कृत्यमाभाति कृत्यं चाकृत्यवत्सदा
दुःखे सुखधियाकृष्टाः कच्छूकण्डूयकादिवत् ॥8०॥

- इन जीवों को कुकृत्य कृत्य भासता है और कृत्य हमेशा अकृत्य जैसा लगता है। खाज के रोग वाले की तरह ये दुःख में सुख बुद्धि से आकर्षित होते हैं।

★ प्राणातिपात आरंभ आदि कुकृत्य मोह के कारण इन्हें कृत्य लगते हैं और अहिंसा अनारंभादि कृत्य सदा अकृत्य जैसे लगते हैं।

★ ये जीव दुःख में सुख बुद्धि से आकर्षित होते हैं अर्थात् समारंभ आदि कृत्य रूप दुःख में सुख मानकर, वे अकृत्य भी करते हैं। यहाँ उदाहरण देते हैं- जो पुरुष खुजाते हैं वे कण्डूयक. इन कण्डूयकों के जैसे ये जीव भी दुःख में सुख बुद्धि रखते हैं। जैसे- खाज आने पर कण्डूयक को खुजाने से सुख का अनुभव होता है अर्थात् रोग वस्तुतः दुःख का कारण है किंतु वह उसमें मानता है।

आदि शब्द से कृमि से पीड़ाते हुए अग्नि सेवक कुष्ठि को ग्रहण करना है। जैसे- किसी कोढ़ के रोगी को पूरे शरीर में उत्पन्न हुए कृमि पीड़ा देते हैं। उस पीड़ा को शांत करने के लिए वह अग्नि का सेवन करता है अर्थात् अग्नि का ताप करता है किंतु, उससे कृमि हलन-चलन बंद करते हैं और रोगी को सुख का आभास होता है किंतु उस तपन से उसके शरीर में कृमि बढ़ने पर वह और ज्यादा पीड़ा का अनुभव बाद में करता है।

इस ही अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

यथा कण्डूयनेष्वेषां धीर्न कच्छूनिवर्तने
भोगाङ्गेषु तथैषां न तदिच्छापरिक्षये ॥8१॥

- जैसे कण्डूयक को खुजाने के साधन में बुद्धि होती है, खाज के निवर्तन में नहीं वैसे ही इन जीवों की बुद्धि भोग के अंगों में होती है, भोगेच्छा के

DATE ___/___/___

क्षय में नहीं होती

★ कोई कण्डूयक यानि खाज रोग का रोगी था। खुजाने के अतिरेक से उसके नाखून क्षीण हो गए थे। रेती वाली भूमि निवास होने से उसे कैसे भी कण्डूयन यानि खुजाने के साधन तृणादि प्राप्त नहीं होते। जिससे उसे खुजाने का सुख प्राप्त नहीं होता। उस कण्डूयक को भिक्षा के पोटले के साथ ग्रहण किया तृण का पूला जिसने, ऐसे एक वैद्य पथिक का दर्शन हुआ। वह वैद्य पथिक से उसने एक तृण माँगा, वैद्य द्वारा एक तृण दिया गया। वह कण्डूयक हृदय से संतुष्ट हुआ और उसके द्वारा सोचा गया, धन्य हैं यह, जिसके पास इतने सारे खुजाने के साधन हैं। उसने वैद्य को पूछा कि इतने सारे ये तृण कहाँ पाये जाते हैं? वैद्य ने कहा, "वाट देश आदि में, तुझे इनसे क्या प्रयोजन हैं?" उसके द्वारा कहा गया खुजाने का सुख। वैद्य बोलता है, "यदि ऐसी बात है तो इन कण्डूयन द्वारा क्या? मैं खाज को सात रात में मिटा दूँगा, त्रिफला का उपयोग करो।" वह बोलता है, "खाज रोग मिट जाने पर खुजली के विनोद के अभाव में जीने का क्या फल, इसलिए त्रिफला से तो मुझे क्या काम? ये कण्डूयन कहाँ मिलते हैं, वह कहो।

★ जैसे कण्डूयक की बुद्धि कण्डूयन में होती है, वह निवर्तन में प्रयास नहीं करता, वैसे ही भवाभिनंदी जीवों की बुद्धि भोग के अंगों में होती है, भोगेच्छा की निवृत्ति क्षय में वह प्रयास नहीं करते। बल्कि तत्त्व की अनभिज्ञता से ही वय का परिपाक होने पर वाजीकरण के आदर से भोगेच्छा को जागृत करते हैं अर्थात् वृद्धावस्था में भी वे भोगेच्छा को नहीं छोड़ते। यहाँ इच्छा का ग्रहण भोगक्रिया का उपलक्षण है।

इस कारण भवाभिनंदी जीव क्या करता है, वह कहते हैं -

आत्मानं पाशयन्येते सदाऽसच्चेष्टया भृशम्
पापधूल्या जडाः कार्यमविचार्यैव तत्त्वतः ॥82॥

DATE ___/___/___

- जड ऐसे ये जीव तत्त्व से कार्य विचार किए बिना ही सदा अत्यन्त असत् चेष्टा से पापधूत्व से आत्मा को मलिन करते हैं।

* ये भवाभिनंदी जीव हमेशा असत् चेष्ट से यानि प्राणातिपात आरंभ रूप ऐसी चेष्टा से आत्मा को अत्यन्त बांधते हैं।

* कैसे बांधते हैं, वह कहते हैं - ये जड यानि मंद बुद्धि वाले जीव क्षणिक कुसुख की आसक्ति से कार्य परमार्थ से विचारे बिना ही करते हैं, जिससे ज्ञानावरणीय आदि लक्षण वाले पाप कर्म रूपी धूत्व से आत्मा को बांधते हैं।

वे कार्य को विचार किए बिना कैसे करते हैं, वह कहते हैं -

धर्मबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु
न सत्कर्मकृषावस्य प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ॥83॥

- ये अल्प मेधा वाले जीव धर्म रूप बीज धर्म के प्रधान बीज समान कर्मभूमि में मनुष्य पन को प्राप्त कर सत्कर्म रूप कृषि यानि खेती में प्रयत्न नहीं करते

* अल्प मेधा वाले अर्थात् अल्प मति वाले ये जीव धर्म के प्रधान कारण ऐसे मनुष्यत्व को प्राप्त कर अर्थात् धर्म के बीज आरोपित करने का और फल प्राप्त करने के प्रधान कारण स्वरूप मनुष्य भव को प्राप्त कर भी ये सत्कर्म रूप कृषि में अर्थात् धर्मबीजारोपण आदि रूप सत्कर्म में ये प्रयत्न नहीं करते।

* प्र. मनुष्यभव धर्म का प्रधान कारण कहाँ है? उ. भरत आदि 15 कर्म भूमि मनुष्यभव धर्म का प्रधान कारण है।

ये जीव धर्मबीजारोपणादि सत्कर्म नहीं करते तो क्या करते हैं?

वडिशामिषवत्तुच्छे कुसुखे दारुणोदये
सक्तास्त्यजन्ति सच्चेष्टां धिगहो दारुणं तमः ॥84॥

- मत्स्य गल मांस जैसे तुच्छ और दारुण उदय वाले कुसुखों में आसक्त ये जीव सच्चेष्टा को छोड़ देते हैं। अहो! भयंकर अज्ञान को धिक्कार हो।

DATE ___/___/___

★ ये जीव, कुसुखों में आसक्त, सच्चेष्टा अर्थात् धर्मसाधन को छोड़ देते हैं।

★ ये कुसुख कैसे हैं, वह कहते हैं-

(i) तुच्छ- अत्यन्त अल्प सुख और अपार दुःख वाले हैं।

(ii) कुसुख- दुष्ट भोगों से उत्पन्न।

(iii) दारुण उदय- दारुण हैं उदय जिसका अर्थात् रौद्र, भयंकर विपाक यानि फल वाले। दुष्ट भोगों से उत्पन्न इन्द्र कुसुख नरक-निगोदादि के अपार दुःख प्राप्ति रूप फल वाले होते हैं।

(iv) वडिषामिषवत्- मत्स्यगलमांस जैसे। जैसे-कोई मच्छीमार मछली पकड़ने के लिए तीक्ष्ण धार वाली सुई में मांस का टुकड़ा लगाकर, उसे पानी में डालकर रख देता है। फिर मछली मांस के लालच से वहाँ मुँह डालती है और वह सुई मछली के गले में फँस जाती है, वह मृत्यु को प्राप्त होती है। वैसे ही ये सुख भी उस मांस के टुकड़े जैसे हैं, यदि जीव उन सुखों में ललचाता है तो वह भी दुःख प्राप्त करता है।

★ क्या यह जीव का दोष है? उ. नहीं, यह जीव के पूर्वबद्ध कर्म का दोष है। इसलिए कहते हैं- यह कर्मजनित अज्ञान दारुण, भयंकर कष्ट है, इस अज्ञान रूपी अंधकार को धिक्कार हो।

★ समयपरिभाषाइयम्- भूत में उदय शब्द लिखा और अर्थ में विपाक लिखा ऐसा क्यों? उ. उदय और विपाक दोनों शब्द भिन्न अर्थ वाले हैं। उदय अर्थात् कर्म अभी वर्तमान में उदयावलिका में है और विपाक अर्थात् कर्म वर्तमान में उदयावलिका में नहीं है किंतु ~~कर्म~~ जब भविष्य में कर्म का फल। यह सिद्धान्त की परिभाषा है कि कर्म के भविष्य के फल को बताने के लिए उदय शब्द भी कभी-कभी प्रयुक्त होता है तथा इसका अर्थ ऐसा करना है, कि जब वह कर्म उदित होगा, तब उसका फल दारुण मिलेगा।

दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि कुसुख की जो परिभाषा और

DATE __/__/____

विशेषणादि लिखे हैं, वे समय, शास्त्र में भी इस प्रकार से ही हैं।

अवेद्यसंवेद्यपद और भवाभिनंदी जीवों की चर्चा का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

अवेद्यसंवेद्यपदमान्ध्यं दुर्गतिपातकृत्
सत्सङ्गागमयोगेन जेयमेतन्महात्मभिः ॥85॥

- अवेद्यसंवेद्यपद इस प्रकार अंधता रूप है, दुर्गति में गिराने वाला है। यह पद महात्माओं द्वारा सत्संग और आगम के योग से जीतने योग्य है।

* अवेद्यसंवेद्यपद अंध भाव जैसा है क्योंकि वह वास्तविक स्वरूप दिखने नहीं देता। इस कारण से ही वह जीव को दुर्गति में गिराने के स्वभाव वाला है।

* ऐसा अवेद्यसंवेद्य पद सत्संग और आगम के योग द्वारा महात्मा अर्थात् इस दृष्टि में रहे योगी द्वारा जितने योग्य है। क्योंकि यह पद इस भूमि में ही जितने योग्य है, बाकी अन्य मित्रादि दृष्टियों में यह पद जितना जीतना शक्य नहीं है।

यहाँ सत्संग और आगम को एक वचन में इसलिए लिखा है क्योंकि वहाँ पुरुष की, सत्संग की प्रधानता है। सत्संग बिना आगम के अर्थ बराबर नहीं समझ सकते तथा दूसरी बात कि उन को अर्थ को समझने के बाद आचरण भी गुरु निश्रा में होना चाहिए।

* प्र. इस दृष्टि में रहा पुरुष अवेद्य पद को जीत सकता है, फिर यहाँ 'जीतना चाहिए' ऐसा उपदेश क्यों दिया है? उ. इस कारण ही आगम अनुवाद यानि बार-बार उपदेश देने में तत्पर है, इस प्रकार योगाचार्य कहते हैं। तथा उपदेश भी योग्य व्यक्ति को ही देते हैं क्योंकि अयोग्य व्यक्ति में निष्फलता की असिद्धि है।

इस अवेद्य पद की जय/जीत के चिह्न कहते हैं-

जीयमाने च नियमादेतस्मिंस्तत्त्वतो नृणाम्
निवर्तते स्वतोऽत्यन्तं कुतर्कविषमग्रहः ॥86॥

DATE ___/___/___

- यह अवेद्यसंवेद्यपद जीतने पर मनुष्यों का कुतर्क रूपी विषमग्रह अत्यंत निवृत्त अवश्य हो जाता है।

* यह अवेद्यसंवेद्यपद जीतने पर मनुष्यों का कुतर्क निवृत्त होता है। यह अवेद्यसंवेद्यपद महामिथ्यात्व का कारण है और पशुता आदि शब्दों से वाच्य है।

* स्वतः - वह कुतर्क स्वयं ही निवृत्त होता है, किसी दूसरे के उपदेश बिना। क्योंकि निमित्त के अभाव में नैमित्तिक का भी अभाव होता है, इस प्रकार का न्याय है। यहाँ निमित्त - अवेद्य पद और नैमित्तिक - कुतर्क

* अत्यंत - यह कुतर्क अत्यंत निवृत्त हो जाता है क्योंकि उस पुरुष को आगम की प्रमाणता का ज्ञान होता है, और प्रमाणता के ज्ञान से उसे सम्यग्ज्ञान होता है। इस सम्यग्ज्ञान के योग से कुतर्क निवृत्त होता है अर्थात् वेद्यसंवेद्यपद वाला पुरुष ~~आगम~~ आगम को बिना किसी कुतर्क के, कदाग्रह बिना स्वीकार लेता है।

* कुतर्क विषम ग्रह - कुतर्क दृष्ट अपाय के हेतुत्व से ग्रह जैसा है अर्थात् यह कुतर्क दृष्ट= प्रत्यक्ष अपाय= दुःख का हेतु है इसलिए ग्रह= भूत-प्रेत जैसा है। अथवा दूसरा कहते हैं जैसे विषम ग्रह यानि वक्र चाल चलने वाले ग्रह दुःख का कारण है, वैसे ही यह कुतर्क दुःख का कारण है।

यह कुतर्क कैसा है, वह कहते हैं -

बोधरोगः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत्
कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं भावशत्रुरनेकधा ॥87॥

- बोध के लिए रोग समान, शम के लिए अपाय समान, श्रद्धा का भंग करने वाला और अभिमान करने वाला यह कुतर्क मन का अनेक प्रकार से व्यक्त भावशत्रु है।

* बोध रोग - कुतर्क सम्यक् बोध के लिए रोग समान है क्योंकि उससे यथावस्थित बोध का उपघात होता है।

DATE ___/___/_____

* शमाऽपायः - कुतर्क शम यानि समता के लिए अपाय समान है क्योंकि वह असद् अभिनिवेश का जनक है अर्थात् कुतर्क से व्यक्ति को पहले तो मिथ्या बोध होता है फिर उस मिथ्या बोध में ही वह असद् आग्रह वाला हो जाता है, सही बात भी नहीं स्वीकारता है। स्वयं की बात मनवाने के लिए वह विवाद भी करता है, और कभी-कभी आवेश में भी आ जाता है।
* श्रद्धाभंग- कुतर्क श्रद्धा तोड़ने वाला है क्योंकि आगम के अर्थ का स्वीकार नहीं है अर्थात् कुतर्क जीव को आगम के अर्थ का स्वीकार नहीं करने देता।
* अभिमानकृत्- कुतर्क मिथ्या अभिमान का जनक है अर्थात् कुतर्क करने वाला जीव स्वयं को बहुत होशियार समझता है तथा अभिमान करता है।
* कुतर्क का लक्षण- आगम निरपेक्ष। जो तर्क आगम से निरपेक्ष रहो, आगम की बात को गलत सिद्ध करते हो, वे तर्क कुतर्क कहलाते हैं।
* इस प्रकार का कुतर्क अंतः करण का भावशत्रु यानि परमार्थ से शत्रु है। कैसे? उ. आर्य यानि आचार्यादि के अपवाद, निंदा आदि कारणों से।

कुतर्क से बचने का उपाय बताते हैं-

कुतर्केऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिवादिनाम्
युक्तः पुनः श्रुते शीले समाधौ च महात्मनाम् ॥88॥

- मुक्तिवादी मुमुक्षुओं को कुतर्क में अभिनिवेश योग्य नहीं है किंतु महात्माओं को श्रुत, शील और समाधि में अभिनिवेश योग्य है।
* मुमुक्षु संन्यासियों को आगम निरपेक्ष ऐसे कुतर्क में अभिनिवेश योग्य नहीं है। अभिनिवेश अर्थात् उस प्रकार का पदार्थ ग्रह रूप यानि 'यह पदार्थ ऐसा ही है' इस प्रकार का आग्रह, कदाग्रह।
* ऐसे महात्माओं को श्रुत, शील और समाधि में आग्रह योग्य है।

(i) श्रुत- आगम। जो पदार्थ आगम में कहा है वह सही है।
(ii) शील- परद्रोह विरति के लक्षण वाला अर्थात् जिस कार्य से दूसरे जीवों क

DATE ___/___/___

द्रोह हो, ऐसे कार्य से अटकने, विराम प्राप्त करने स्वरूप शील, आचार।

(iii) समाधि- ध्यान के फल स्वरूप अर्थात् ध्यान से जो निर्विकल्प दशा प्रगट होती है, उस दशा में रहने का आग्रह रखना।

और किस वस्तु में अभिनिवेश करना चाहिए, वह कहते हैं-

बीजं चास्य परं सिद्धमवन्ध्यं सर्वयोगिनाम्
परार्थकरणं येन परिशुद्धमतोऽत्र च ॥४९॥

- जिस कारण से परार्थकरण श्रुतादि का बीज, अवन्ध्य, सर्व योगियों को सिद्ध कहा है, उस कारण से परार्थ करण में अभिनिवेश योग्य है।

भावार्थ यह है कि परिशुद्ध ऐसा परार्थकरण श्रुतादि का बीज है, प्रधान है, अवन्ध्य है और सभी योगियों को सिद्ध है इसलिए परार्थकरण में भी अभिनिवेश योग्य है।

परं सिद्धं- सभी को अनुभव सिद्ध, उनके द्वारा प्रधान प्रतिष्ठित किया हुआ

अवन्ध्य- नियत यानि अवश्य फल देने वाला।

परार्थकरण- परोपकार, दूसरे के प्रयोजन का निष्पादन करना।

परिशुद्ध- अन्य का उपघात न हो इस प्रकार परोपकार करना।

कुतर्क की असारता को कहते हैं-

अविद्यासङ्गताः प्रायो विकल्पाः सर्व एव यत्
तद्योजनात्मकश्चैष कुतर्कः किमनेन तत् ॥५०॥

- सभी विकल्प प्रायः अविद्या के संग से होते हैं और 'यत् तद्' को जोड़ने वाला यह कुतर्क है, इसलिए कुतर्क से क्या?

प्रायः बहुलता से शब्द अथवा अर्थ के सभी विकल्प ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से जुड़ी हुई अविद्या के संग से होते हैं।

यह कुतर्क इन विकल्पों को जोड़ने वाला है। जैसे- गोबर और दूध दोनों गाय के शरीर से निकलते हैं, यदि दूध पेय पदार्थ है तो गोबर भी भोज्य होना चाहिए

DATE ___/___/_____

यदि दूध गोबर भोज्य नहीं है तो दूध भी अपेय होना चाहिए। इस प्रकार के विकल्पों को यह कुतर्क जोड़ता है।

* इसलिए इस कुतर्क से क्या अर्थात् ~~कुछ~~ कुछ नहीं, कुतर्क करना निरर्थक है

यह कुतर्क कैसा होता है, वही कहते हैं-

जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीतिफल्गुबाधितः
हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताऽप्राप्तविकल्पवत् ॥9॥

- 'हाथी मारेगा' इस प्रकार कहने पर प्राप्त-अप्राप्त विकल्प जैसे यह सभी कुतर्क प्रसिद्ध फल से बाधित और जातिप्राय है।

* जातिप्राय- दूषणाभास। न्यायशास्त्र में गल्पत दूषण को जाति कहते हैं। वक्ता की बात में कोई दूषण न होने पर भी शब्दों के मनगढंत अर्थ से उसे दूषण कहना, यह दूषण का आभास है। यह सभी कुतर्क ऐसे ही दूषणाभास हैं; क्योंकि आगम की सभी बात सत्य है किंतु मनोकल्पना से उसे दूषित कहना, वह दूषणाभास है।

* प्रतीतिफल्गुबाधित- प्रतीति यानि अनुभव। अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव में जो फल्गु दिखता है, उस फल्गु से भी बाधित है अर्थ यानि उस फल्गु से भी वह कुतर्क गल्पत सिद्ध होता है।

* यहाँ पर ग्रंथकार ने एक उदाहरण देते हैं- एक नैयायिक छात्र था। एक बा. वह कहीं से आ रहा था, तब ~~ह~~ अवश हुए ऐसे मत्त हस्ती पर बैठे हुए महावत द्वारा वह कहा गया कि जल्दी हट, हाथी मारता है। तब ~~वह~~ परिण नहीं हुआ है न्यायशास्त्र जिसे ऐसा वह कहता है, "मूर्ख! इस प्रकार युक्ति बाह्य क्यों बोल रहा है! वह युक्ति इस प्रकार है कि यह ~~ह~~ हाथी प्राप्त क अक्ति को मारता है अथवा अप्राप्त को? यदि प्रथम पक्ष में प्राप्त को मारता है तो तुझे ही आपत्ति होने का प्रसंग है (अर्थात् सबसे पहले महाव ~~ह~~ ही प्राप्त है इसलिए उसे मारना चाहिए) और यदि अप्राप्त को मार है तो तीनों भुवन को आपत्ति का प्रसंग है क्योंकि त्रिभुवन की प्राप्ति उसे

DATE ___/___/___

सामान्य ही है, विशेष नहीं है।" इस प्रकार जहाँ तक वह बोलता है, तबतक तो हाथी द्वारा पकड़ा जाता है, फिर कैसे भी करके महावत द्वारा छुड़ाया जाता है।

इस दृष्टांत में जातिप्रायता बताते हैं कि भिन्नार्थ= ~~वक्ता~~ वक्ता के शब्दों के अर्थ, उसके मन में रहे अर्थ से भिन्न करना, ऐसे भिन्न अर्थ को ग्रहण करने का स्वभाव का संवेदन है का वेदन है जिसमें ऐसा कुतर्क अर्थात् सामान्य अर्थ के ग्रहण करने का है स्वभाव है जिसमें ऐसा संवेदन, ऐसे संवेदन का वेदन (ज्ञान) सभी सुतर्क में है किंतु कुतर्क में सामान्य से भिन्न अर्थ ग्रहण करने स्वरुप स्वभाव वाला संवेदन का ज्ञान है। ऐसे कुतर्क में तद्गत (भिन्नार्थ) भिन्नार्थ में रहे आकार का विकल्प एवं प्राय होता है अर्थात् इस प्रकार (प्राप्त-अप्राप्त? जैसे) अनुभव विरुद्ध होता है। ऐसे विरुद्धत्व होने से यहाँ जातिप्रायता है।

भावार्थ यह है कि (i) सबसे पहले कुतर्क कैसा है, वह बताते हैं- भिन्नार्थ ग्रहण स्वरूप स्वभाव के संवेदन रूप ज्ञान वाला। (ii) इस प्रकार के कुतर्क में सर्वत्र (सभी जगह, जहाँ भी कुतर्क हो वहाँ) भिन्नार्थ में रहे आकार (अर्थ) का विकल्प अनुभव विरुद्ध होता है (एवंप्राय) इसलिए कुतर्क में जातिप्रायता यानि दूषणाभास है।

जैसे - उपरोक्त उदाहरण में वक्ता के मन में अनुभव सिद्ध अर्थ होता है। (हाथी संमुख रहे व्यक्ति को मारता है)। किन्तु वह श्रोता भिन्नअर्थ ग्रहण करता है (प्राप्त-अप्राप्त), वह भिन्नार्थ अनुभव विरुद्ध होता है। यही दूषणाभास है।

* यह चर्चा अन्य ग्रंथों में चर्चित है।

अतीन्द्रिय पदार्थ में कुतर्क बताते हैं-

स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽसावपि तत्त्वतः
नावगिदृग्गोचरो न्यायादन्यथाऽन्येन कल्पितः ॥9५॥

DATE ___/___/_____

- 'स्वभाव' इस प्रकार का अंतिम उत्तर भी कुतर्क है क्योंकि तत्त्व से स्वभाव छद्मस्थ का विषय नहीं है, अन्य द्वारा न्याय से स्वभाव भी अन्यथा कल्पित है।

★ 'वस्तु के स्वभाव के कारण यह कार्य होता है' ऐसा यदि कोई वादी उत्तर देता है तो वह भी कुतर्क है क्योंकि स्वभाव छद्मस्थ का विषय नहीं है। स्वभाव तो अन्यथा भी न्याय से अन्यथा भी सिद्ध किया जा सकता है। (गाथार्थ का भावार्थ)

★ यदि कोई वादी वाद में हार रहा हो और अंत में उत्तर दे कि यह तो वस्तु के स्वभाव से सिद्ध होता है क्योंकि (अत्र) इस पदार्थ में वस्तु स्वभाव से ही उत्तर कहना चाहिए, ऐसा शास्त्र का वचन है, तो यह उत्तर भी कुतर्क है। कैसे - इसे आगे सिद्ध करेंगे।

प्र. जब शास्त्र का वचन है कि इस पदार्थ में वस्तु स्वभाव ही उत्तर है, तो वह कुतर्क क्यों है? उ. क्योंकि शास्त्र वचन दो प्रकार से होते हैं (i) हेतु वचन (ii) आगमिक वचन। जहाँ हेतु से वाद हो रहा हो वहाँ आगमिक वचन रखना, वह कुतर्क है (पंचवस्तुक - 993, हरिभद्रसू.)।

इसमें दृष्टांत देते हैं कि 'अग्नि जलाती है, पानी भिगोता है' इस प्रकार दोनों का स्वभाव है, यह कुतर्क है इसे सिद्ध करते हैं।

★(i) यह कुतर्क है, इसे सिद्ध करने के लिए युक्ति देते हैं कि यह स्वभाव तत्त्व से छद्मस्थ का विषय नहीं है क्योंकि यह बात अन्य दर्शन में प्रसिद्ध न्याय से सिद्ध है, कि वस्तु का स्वभाव छद्मस्थ का विषय नहीं है।

(ii) दूसरी युक्ति है कि यह स्वभाव प्रतिवादी द्वारा अन्य प्रकार से भी कल्पित किया गया है, जिससे विपरीत स्वभाव भी सिद्ध हो जाता है। वह इस प्रकार - 'शास्त्र वचन है कि वस्तु स्वभाव से उत्तर देना चाहिए' यदि यह वचन सभी जगह लगाना है तो इस प्रकार से उस-उस भाव की सिद्धि करने में समर्थ हो जाएँगे अर्थात् यदि यह शास्त्र वचन सर्वत्र प्रमाण माना जाए तो सब पदार्थ स्वयं के मनमाने अर्थ से सिद्ध हो

DATE ___/___/___

जाएँगे। कैसे? जिस कारण से पदार्थ का तदर्थक्रियाकारण स्वभाव है, उस कारण से वह अर्थक्रिया करता है, क्षणिकत्व से पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करता (ऐसी बौद्धदर्शी की मान्यता है) क्योंकि अर्थक्रिया का सभी भावों में स्वीकार है। यदि क्षणिकता से अर्थक्रिया मानी जाए तो किसी भी वस्तु से कोई अर्थक्रिया हो सकती है क्योंकि क्षणिकता तो सभी में सामान्य है। इस प्रकार बौद्ध ने स्वभाव से उत्तर देकर क्षणिकता को सिद्ध किया। इस प्रकार अग्नि पानी की संनिधि में भिगोती है और पानी अग्नि के संयोग में जलाता है, यह भी उस प्रकार के स्वभाव से सिद्ध हो जाएगा। स्वभाव की विचित्रता से इस कथन में लोकबाधा सिवाय अन्य कोई बाधा नहीं है क्योंकि लोक में ऐसा व्यवहार नहीं होता। तथा दृष्टान्तमात्र तो सभी जगह (अर्थात् सभी कथन में) सुलभ ही है, जैसे- गरम पानी जलाता है क्योंकि उसमें अग्नि का संयोग है।

इस प्रकार विपरीत स्वभाव भी कुतर्क से सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए कुतर्क असमंजस करने वाला है, यह इस गाथा का एदंपर्यार्थ है।

इस अर्थ को विशेष से कहते हैं-

अतोऽग्निः क्त्वेदयत्यम्बुसन्निधौ दहतीति च
अम्ब्वग्निसन्निधौ तत्स्वाभाव्यादित्युदिते तयोः ॥93॥

- स्वभाव के कारण से अग्नि पानी के सांनिध्य में भिगोती है और पानी अग्नि के सांनिध्य में जलाता है, इस प्रकार कहने पर (श्लोक 94 से संबंध है।)

पदार्थ का अधिकृत स्वभाव छद्मस्थ का विषय नहीं है, इसलिए प्रतिवादी ऐसा कहता है कि स्वभाव से अग्नि भिगोती है तथा प्रत्यक्षप्रमाण के विरोध के परिहार के लिए पानी का सांनिध्य भी लिखता है। इसी प्रकार पानी जलाता है, प्रसिद्ध की बाधा न हो इसलिए अग्नि का सांनिध्य भी कहता है।

DATE ___/___/_____

अग्नि और पानी का ऐसा स्वभाव कहने पर, क्या ? वह कहते हैं- (वादी प्रतिवादी की इस युक्ति का उत्तर देता है)

कोशपानादृते ज्ञानोपायो नास्त्यत्र युक्तितः
विप्रकृष्टोऽप्ययस्कान्तः स्वार्थकृद् दृश्यते यतः ॥95॥

- सौंगंध खाए बिना इस बाबत में ज्ञान का कोई युक्तिपूर्वक उपाय नहीं है क्योंकि दूर रहा हुआ चुंबक स्वयं के अर्थ को करता हुआ दिखता है।

* इस स्वभाव के कथन में शुष्क तर्क की युक्ति से सौंगंध खाए बिना कोई ज्ञान का उपाय नहीं है।

* कोई पूछता है कि 'स्वभाव' यह उत्तर कुतर्क है, ऐसा कोई दूसरा दृष्टांत है जो इस अर्थ की पुष्टि करता है? उ. दूर रहा हुआ लोह-चुंबक स्वयं का कार्य करते हुए दिखता है अर्थात् लोक में वह चुंबक दूर रहा हुआ ही खींचता है, पास रहा हुआ नहीं; लोहे को ही खींचता है, तांबे आदि को नहीं; आकर्षण ही करता है, कारता नहीं है। इन सबका का कारण स्वभाव ही है। जिस प्रकार चुंबक का ऐसा विचित्र स्वभाव है, वैसे ही अग्नि आदि का भी उस प्रकार के विचित्र स्वभाव की कल्पना किसके द्वारा रोकी जाएगी अर्थात् चुंबक में जैसा विचित्र स्वभाव है, वैसे ही अग्नि आदि का भी विचित्र स्वभाव है, इस विचित्र स्वभाव से लोक विरुद्ध स्वभाव भी सिद्ध कर सकते हैं। ऐसे लोक विरुद्ध स्वभाव की कल्पना कोई नहीं रोक सकता। फिर दोनों में से कोई एक स्वभाव ही पदार्थ का मूल स्वभाव हो सकता है क्योंकि मूल स्वभाव कभी भी बदलता नहीं है, यह लोकबाधा वहाँ उत्पन्न होगी।

उपसंहार करते हुए कहते हैं-

दृष्टान्तमात्रं सर्वत्र यदेवं सुलभं क्षितौ
ततत्प्रधानस्तत्केन स्वनीत्यापोद्यते ह्ययम् ॥95॥

- पृथ्वी पर इस प्रकार दृष्टांत मात्र तो सभी जगह सुलभ है इसलिए दृष्टांत की

DATE ___/___/___

प्रधानता वाला यह कुतर्क स्वनीति से किसके द्वारा बाधित हो ?

* पृथ्वी पर उपरोक्त विपरीत स्वभाव वाले दृष्टांत की तरह लोक अनुभव से विरुद्ध, ऐसे अनेक दृष्टांत सभी जगह हैं। यदि उन्हें लेकर सिद्धांत बनाया जाए, तो सिद्धांत भी गलत ही बनेगा।

* ऐसे दृष्टांत की प्रधानता वाले कुतर्क किसके द्वारा बाधित होंगे अर्थात् किसी के द्वारा बाधित नहीं होंगे क्योंकि वादी अथवा प्रतिवादी दोनों की नीति दृष्टांत से ही सिद्ध करने की है। यदि सामने वाले के दृष्टांत में प्रश्न उठाएँगे तो स्वयं की नीति से भी विरोध होगा। इसलिए वह किसी के भी द्वारा बाधित नहीं हो सकता।

दृष्टांत से सिद्ध गलत सिद्धांत का भी विरोध नहीं कर सकते, इस कथन की पुष्टि के लिए उदाहरण देते हैं-

द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाननिदर्शनबलोत्थितः
निरालम्बनतां सर्वज्ञानानां साधयन् यथा ॥96॥

- द्विचंद्र और स्वप्न विज्ञान के दृष्टांत से उत्पन्न ज्ञानाद्वैत नय, सभी ज्ञानों की निरालंबनता को सिद्ध करता ज्ञानाद्वैत नय जैसे (किसी के द्वारा गलत सिद्ध नहीं होता, वैसे ही कोई भी सिद्धांत कुतर्क से गलत सिद्ध नहीं होता।)

* एक प्रकार के रोगी को आकाश में एक चंद्र होने भी दो दिखते हैं, तथा स्वप्न में जो भी वस्तु दिखती है, वह वहाँ वस्तुतः नहीं होती है किंतु उसका ज्ञान मात्र होता है।

* इस प्रकार इन दो उदाहरण के बल से ज्ञानाद्वैत नय उत्पन्न हुआ, जो सिर्फ ज्ञान को ही सत् मानता है बाकी सब पदार्थ को असत् मानता है। वह कहता है कि बाहर जो भी दिख रहा है, वह वस्तु वहाँ है ही नहीं, उसका सिर्फ ज्ञान हो रहा है।

उनसे पूछा गया कि ज्ञान क्यों हो रहा है? तो कहते हैं कि ज्ञान तो निरालंबन है, इसे किसी आलंबन की जरूरत नहीं।

DATE __/__/____

इस प्रकार मृगतृष्णा आदि विषय वाले सभी ज्ञान की निरालंबनता को सिद्ध करता हुआ वह नय किसी से भी बाधित नहीं हो सकता; उसमें भी अंतिम उत्तर तो स्वभाव ही होता है कि ज्ञान का इस प्रकार का स्वभाव है।

इस प्रकार कुतर्क से तो सही-गलत कुछ भी सिद्ध हो सकता है किंतु इस प्रकार तत्त्वसिद्धि, तत्व प्राप्ति नहीं होती, वह कहते हैं-

सर्वं सर्वत्र चाप्नोति यदस्मादसमञ्जसम्
प्रतीतिबाधितं लोके तदनेन न किञ्चन ॥७॥

- सभी वस्तु में सभी पदार्थ अनुभव विरुद्ध ऐसे असमंजस को कुतर्क से प्राप्त होते हैं इसलिए कुतर्क द्वारा कोई प्रयोजन नहीं।

* इस कुतर्क से सभी साध्य पदार्थ सभी वस्तु में असमंजस को प्राप्त करते हैं। वह असमजंस लोक में अनुभव विरुद्ध होता है और उस प्रकार का दृष्टांतमात्र सार वाला होता है अर्थात् सिर्फ उस दृष्टांत में ही वह घटित होता है।

* यह असमंजस भी अतिप्रसंग अथवा अतिव्याप्ति दोष सहित होता है अर्थात् जैसे वादी ने दृष्टांत से सिद्ध किया कि पानी भिगोता है और अग्नि जलाती है, वैसे ही प्रतिवादी ने भी दृष्टांत से इसके विरुद्ध सिद्ध कर दिया, जब एक दृष्टांत से वादी उसके पक्ष को स्वीकारता है, वैसे ही दूसरे दृष्टांत के बल से उसे विपरीत भी स्वीकारने की आपत्ति आएगी, यह अतिव्याप्ति दोष है।

* इसलिए ग्रंथकार भ. कहते हैं कि इस कुतर्क से तत्त्वसिद्धि में कोई प्रयोजन नहीं है तथा योगी पुरुष को कुतर्क छोड़ देना चाहिए।

जीवों को अतीन्द्रिय पदार्थ के ज्ञान के लिए क्या करना चाहिए, वह कहते हैं- (कुतर्क का स्वरूप इस प्रकार का है, इसलिए कहते हैं)

DATE ___/___/___

अतीन्द्रियार्थसिद्ध्यर्थं यथाऽऽत्योचितकारिणाम्
प्रयासः शुष्कतर्कस्य न चासौ गोचरः क्वचित् ॥98॥

- यथायोग्य विचार कर प्रवृत्ति करने वालों का प्रयास अतीन्द्रिय अर्थ की सिद्धि के लिए होता है और यह कभी भी शुष्क तर्क का विषय नहीं बनता।
* स्वयं के हित-अहित आदि का विचार करने पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों का प्रयास यानि प्रवृत्ति का उत्कर्ष, उत्कृष्ट प्रवृत्ति अतीन्द्रिय अर्थों की सिद्धि की के लिए होता है अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों का कुतर्क से खंडन नहीं करते, वे उसे युक्ति से सिद्ध करने के लिए प्रयास करते हैं और यदि युक्ति से सिद्ध न हो पाए तो श्रद्धा से स्वीकार करते हैं।
* ये अतीन्द्रिय अर्थ, धर्मादि द्रव्य कभी शुष्क तर्क यानि कुतर्क का विषय नहीं बन सकते। क्योंकि वे शास्त्र से ही जान सकते हैं।

यदि ये अतीन्द्रिय पदार्थ शुष्क तर्क के विषय नहीं हैं तो कैसे बात हो सकते हैं, वह कहते हैं-

गोचरस्त्वागमस्यैव ततस्तदुपलब्धितः
चन्द्रसूर्योपरागादिसंवाद्यागमदर्शनात् ॥99॥

- अतीन्द्रिय अर्थ आगम के ही विषय हैं क्योंकि वे आगम से ही उपलब्ध होते हैं, जैसे चन्द्र-सूर्य के उपराग आदि संवादी आगम में प्राप्त होते हैं।
* अतीन्द्रिय अर्थ आगम के ही विषय हैं क्योंकि ये अर्थ आगम से उपलब्ध होते हैं और अर्थात् ये अर्थ अन्य कहीं प्राप्त नहीं होते।
* प्र. यदि ये अर्थ अन्य कहीं प्राप्त नहीं होते तो आगम की बात सत्य कैसे मान लें? उ. इसका प्रत्यक्ष, लौकिक उदाहरण देते हैं। जैसे- चंद्र-सूर्य के ग्रहण आदि आगम में बताए हैं वैसे ही वे प्रत्यक्ष भी दिखते हैं अर्थात् जब भगवान् की एक बात हमें लौकिक रीति से सही दिखती है तो उनकी दूसरी बात भी सही क्यों नहीं होगी? अर्थात् सही ही होगी।

DATE ___/___/_____

इस प्रकार अतीन्द्रिय पदार्थों में ऐसी भावना से भावित होकर भगवान् की बात पर श्रद्धा करना चाहिए।

कुतर्क की चर्चा तथा अतीन्द्रिय पदार्थों पर श्रद्धा की बात का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

एतत्प्रधानः सच्छ्रद्धः शील्यवान् योगतत्परः
जानात्यतीन्द्रियानर्थांस्तथा चाह महामतिः ॥१००॥

- आगम प्रधान, सत् श्रद्धावान्, शीलवान् और योग में तत्पर ऐसा योगी अतीन्द्रिय अर्थों को जानता है। इसी प्रकार महामति भी कहते हैं।

★ आगम है प्रधान जिसको अर्थात् आगम को प्रधान मानने वाला; सत् श्रद्धा वाला, बुद्धिमान् प्राज्ञ; शीलवान्, दूसरे का द्रोह हो ऐसी प्रवृत्ति से अटकने वाला; योग में तत्पर, हर समय योग से युक्त ऐसा योगी अतीन्द्रिय अर्थों को यानि धर्मादि को जानता है। अर्थात् ऐसे योगी को जब अनुभूति होती है तब वह सही रीति अतीन्द्रिय अर्थों को जान सकता है।

★ इस प्रकार महामति यानि महर्षि पतंजलि भी कहते हैं- श्लोक १०। से संबंध।

महर्षि पतंजलि भी कहते हैं-

आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥१०॥

- आगम से, अनुमान से और योगाभ्यास के रस से, इस प्रकार तीन प्रकार से प्रज्ञा को युक्त, पुंजन करता हुआ व्यक्ति उत्तम तत्त्व को प्राप्त करता है।

★ आगम- आप्त वचन के लक्षण वाले आगम अर्थात् जो व्यक्ति वस्तु के स्वरूप को अतीन्द्रिय ज्ञान से संपूर्णतया जानते और कहते हैं, वे आप्त पुरुष कहलाते हैं। ऐसे आप्त पुरुष के वचन स्वरूप जो ग्रंथ लिखे गए, वे आगम।

★ अनुमान- ज्ञान बाह्य पदार्थ से दो प्रकार से हो सकता है (i) प्रत्यक्ष- सामने प्रत्यक्ष ही कोई वस्तु का ज्ञान होना (ii) अनुमान- चिह्न से वस्तु का ज्ञान

DATE ___/___/___

होना, जैसे- पर्वत पर धुआँ देखकर हम अनुमान से कह सकते हैं कि वहाँ आग लगी है। इस प्रकार किसी चिह्न (धूम) को देखकर चिह्न वाली वस्तु (आग) का ज्ञान करना, वह अनुमान है।

योगाभ्यासरस- कहे गए अनुष्ठान के बार-बार अभ्यास के रस से पुगरने वाला ज्ञान।

इन तीनों में बुद्धि को क्रमिक रीति से जोड़ता हुआ जीव ही तत्व प्राप्त करता है। इनका क्रमसर होना आवश्यक है। पहले आगम पर श्रद्धा होना चाहिए, फिर अनुमान आगम के अनुसार होना चाहिए, फिर आगम में कहे अनुष्ठान का रसपूर्वक अभ्यास होना चाहिए, तब जीव को आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है।

यदि इस क्रम को तोड़ दिया तो जीव आगम से विरुद्ध अनुमान भी कर सकता है अथवा अनुष्ठान करेगा और यदि आगम का ज्ञान न हो, तो वह अनुष्ठान जयणापूर्वक नहीं होगा, इसलिए पहले आगम → अनुमान → अनुष्ठान यह क्रम आवश्यक है। अन्यथा प्रवृत्ति की असिद्धि होती है अर्थात् अन्य प्रकार से प्रवृत्ति से जो तत्त्व मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता है अथवा विपरीत तत्त्व भी मिल सकता है।

तत्त्व कैसे मिलता है वह कहते हैं- पाप रूप संमोह की निवृत्ति द्वारा श्रुतादि भेद से तत्त्व प्राप्त होता है।

इसी अर्थ को कहते हैं-

न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाश्रयणं ततः ॥102॥

- सर्वज्ञ बहुत होने पर भी तत्त्व से भिन्नमत वाले नहीं है इसलिए उनमें भेद करना, यह उनके श्रद्धु भक्तों का मोह है।

यहाँ जगत में सर्वज्ञ तो बहुत हैं किन्तु परमार्थ से, वे सभी भिन्न मत वाले, भिन्न अभिप्राय वाले नहीं हैं। सभी की देशना आदि में शब्द से अंतर

DATE ___/___/___

हो सकता है किंतु अर्थ से एक ही ही होती है।

★ प्र. सभी सर्वज्ञ एक ही मत वाले हैं तो उनमें अंतर क्यों दिखाई देता है?

उ. सभी सर्वज्ञ एक ही मत वाले हैं। किंतु उन पर अतिशय श्रद्धा जैसे- ऋषभ आदि तीर्थंकर, सामान्य केवली। अन्य जो अलग मत वाले हैं जैसे- बुद्ध, कपिल्य, कणाद आदि, उनमें जो केवली से समान मत वाले हैं वे सर्वज्ञ हैं बाकी को हम असर्वज्ञ मानते हैं।

★ प्र. इनके अनुयायी स्वयं की मान्यता को सिद्ध करने के लिए इतना परिश्रम क्यों करते हैं? उ. यह तो उन पर अतिशय श्रद्धा वालों का मोह यानि अज्ञान मात्र है।

सर्वज्ञ के भेद की मान्यता में श्रद्धों का मोह कैसे है, वह कहते हैं-

सर्वज्ञो नाम यः कश्चित् पारमार्थिक एव हि
स एक एव सर्वत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः ॥103॥

- जो कोई भी पारमार्थिक सर्वज्ञ है वह व्यक्तिभेद होने पर भी तत्त्व से एक ही है।

★ अर्हद् आदि जो भी सर्वज्ञ हैं, वे तत्त्व से एक ही है।

★ इस कथन में पारमार्थिक सर्वज्ञ ही लेना है क्योंकि सभी शास्त्रों को जानने वाला भी सर्वज्ञ कहलाता है किंतु वे परमार्थ से सर्वज्ञ नहीं हैं। पारमार्थिक सर्वज्ञ अर्थात् जो निरुपचरित, उपचार रहित हो, यानि जो अतीन्द्रिय-इन्द्रिय आदि सभी पदार्थ को संपूर्णतया जानते हों।

★ अर्हद् आदि जो भी सर्वज्ञ हैं, वे व्यक्ति का होने पर भी सर्वज्ञत्व से समान है अर्थात् ऋषभ आदि लक्षण वाला व्यक्ति भेद होने पर भी उनव सर्वज्ञता में कोई अंतर नहीं है।

अन्य दर्शनवाले जो पारमार्थिक सर्वज्ञ की बुद्धि से असर्वज्ञ को भजते हैं, वे सर्वज्ञ के उपासक कहे जाएँगे या नहीं-

DATE ___/___/___

प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य सामान्येनैव यावतां
ते सर्वेऽपि तमापन्ना इति न्यायगतिः परा ॥१०५॥

- जिनको सर्वज्ञ की प्रतिपत्ति सामान्य से भी है, वे सभी सर्वज्ञ को प्राप्त है, इस प्रकार श्रेष्ठ न्यायगति है।

* जो त्रिकाल ज्ञानी है, पदार्थों के सभी पर्यायों को संपूर्णतया जानते हैं वे सर्वज्ञ हैं। इस प्रकार सर्वज्ञता का लक्षण है।

* जिन लोगों ने सामान्य से भी सर्वज्ञ को स्वीकारा हो, वे भी मुख्य सर्वज्ञ को तो स्वीकारते ही हैं, इस प्रकार न्यायगति है।

* जैनें लोग तीर्थंकर, केवली भ. आदि को सर्वज्ञ मानते हैं। अन्य दर्शन वाले अपने-अपने आप्त पुरुषों को सब सर्वज्ञ मानते हैं जैसे- बुद्ध, कपिल, बिष्णु, शिव आदि। किंतु ये सभी अलग-अलग व्यक्ति को सर्वज्ञ मानने के बावजूद भी सर्वज्ञता के मुख्य लक्षण की ही उपासना करते हैं। अर्थात् उन सभी में रहे सर्वज्ञत्व की ही, वे लोग पूजा करते हैं। जिन्हें मंद मिथ्यात्व के कारण मुख्य सर्वज्ञ मिल गए तो उन्होंने उनको पूजा, जिन्हें गाढ़ मिथ्यात्व के कारण मुख्य सर्वज्ञ नहीं मिले तो भी उन्होंने मुख्य सर्वज्ञत्व का स्वीकार तो कर ही लिया, इस प्रकार न्याय है।

प्र. यह न्याय कैसा है तथा वे भी सर्वज्ञता को स्वीकारते हैं, ऐसा कैसे सिद्ध हुआ? उ. जैसे- किसी व्यक्ति ने ऊँचे पर्वत को देखकर उसे मेरु मान लिया। इस बात से यह सिद्ध होता है कि उस व्यक्ति ने मे जगत् में मेरु पर्वत है, ऐसा स्वीकार तो किया किंतु वह मेरु पर्वत ~~जो~~ कौन-सा है, इस बात का उसे भ्रम है। इसी प्रकार अन्य दर्शनवालों ने सर्वज्ञता को तो स्वीकारा किंतु गलत व्यक्ति में उसका आरोप किया, यह उनका भ्रम है, ~~यह~~ इस प्रकार का श्रेष्ठ न्याय प्रसिद्ध है।

* भावार्थ यह होता है कि जब उनका मिथ्यात्व मंद होगा तब वे भी अन्य को छोड़कर अर्हदादि का स्वीकार करेंगे। अभी उन्होंने सामान्य से ही स. सर्वज्ञत्व का स्वीकार किया है।

DATE ___/___/_____

★ तमन्तरेण तत्प्रतिपत्तेरसिद्धेः - यदि वे लोग स्व सर्वज्ञ रूप में किसी की भी व्यक्ति को नहीं स्वीकारते तो यह सिद्ध होता कि वे सर्वज्ञत्व को भी नहीं स्वीकारते। क्योंकि सर्वज्ञ बिना तो सर्वज्ञ की प्रतिपत्ति भी असिद्ध ही है। अर्थात् कोई सर्वज्ञ ही न हो तो उसके स्वीकार की बात कहा से आए। परंतु अन्य दर्शन वालों ने सर्वज्ञ का स्वीकार किया, उससे यह तो सिद्ध होता है कि जगत् में कोई सर्वज्ञ है ऐसा उन्होंने स्वीकार किया।

विशेषस्तु पुनस्तस्य कात्स्न्र्येनासर्वदर्शिभिः
सर्वैर्न ज्ञायते तेन तमापन्नो न कश्चन ॥105॥

- उन सर्वज्ञ का विशेष स्वरूप असर्वदर्शी ऐसे सभी लोगों द्वारा संपूर्णतया नहीं जाना जा सकता इसलिए कोई उनको नहीं स्वीकार सकता

★ असर्वदर्शी यानि छद्मस्थ ऐसे प्रमाता, मापने वाले। ऐसे छद्मस्थ जीवों द्वारा उन सर्वज्ञ का भेद संपूर्णतया नहीं जाना जा सकता। क्योंकि कोई सर्वज्ञ वर्तमान काल में इस क्षेत्र में मौजूद नहीं है। यदि कोई सर्वज्ञ यहाँ उपस्थित हो तो भी छद्मस्थ जीव चर्मचक्षु से उनके ज्ञान आदि गुणों के बारे में नहीं जान सकता (तज्ज्ञान-अगतिः अप्राप्तिः इत्यर्थः)।

★ इस कारण से कोई भी छद्मस्थ उन ~~का~~ सर्वज्ञ को प्राप्त नहीं कर सकता।

तस्मात्सामान्यतोऽप्येनमभ्युपैति य एव हि
नित्यजिं तुल्य एवासौ तेनांशेनैव धीमताम् ॥106॥

- इस कारण से जो छद्मस्थ सामान्य से ही इन सर्वज्ञ को स्वीकारता है उस अंश से ही बुद्धिमानों को यह उपासक समान ही है।

★ छद्मस्थ सर्वज्ञ को अथवा सर्वज्ञ के ज्ञान को प्रत्यक्ष देख नहीं सकते इसलिए जो भी छद्मस्थ सर्वज्ञ को सामान्य से भी स्वीकारता है, वह चाहे ~~जैन हो~~, बौद्ध, कपिल हो, शैव हो, वैष्णव हो अथवा जो भी हो, वे सभी बुद्धिमान पुरुषों की दृष्टि में समान ही है।

DATE ___/___/___

* छद्मस्थ सर्वज्ञ का स्वीकार कैसे करे? उ. नित्यजिं= औचित्य के योग से उनके द्वारा कही हुई गए आचार के पालन में तत्पर अर्थात् कपट रहित गुरु का स्वीकार करे, फिर स्वयं की भूमिका के उचित उनकी भक्ति आदि करे और उनके द्वारा कहे हुए यम-नियमादि के पालन में तत्पर बने।

* बुद्धिमानों की दृष्टि में ये सभी उपासक समान कैसे हैं? उ. सर्वज्ञ की प्रतिपत्ति रूप लक्षण से अर्थात् सभी ने भले ही अलग-अलग व्यक्ति को स्वीकारा किंतु सर्वज्ञ का स्वीकार किया इसलिए वे समान हैं।

* प्र. कैसे बुद्धिमान् की दृष्टि में वे समान हैं? उ. अनुपहत बुद्धि वाले बुद्धिमान् अर्थात् जिनकी बुद्धि दृष्टिराग से, कदाग्रह से अथवा पूर्वग्रह से, पक्षपात से उपहत न हो।

इसी अर्थ को दृष्टांत से कहते हैं-

यथैवैकस्य नृपतेर्बहवोऽपि समाश्रिताः
दूरासन्नादिभेदेऽपि तद्भृत्याः सर्व एव ते ॥१०७॥

- जैसे एक राजा के बहुत सारे आश्रित दूर-आसन्न आदि भेद होने पर भी उसके ही भृत्य हैं (श्लोक १०८ से संबंध है।)

* कोई विवक्षित राजा के बहुत सारे आश्रित पुरुष उस प्रकार के नियोग आदि के भेद से यानि उस-उस प्रकार के कार्य में जोड़ने के भेद से दूर-नजदीक आदि भेद होने पर भी, वे सभी पुरुष उस राजा के ही सेवक हैं।

श्लोक १०७ में दार्ष्टान्तिक को जोड़ते हुए कहते हैं-

सर्वज्ञतत्त्वाऽभेदेन तथा सर्वज्ञवादिनः
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेया भिन्नाचारस्थिता अपि ॥१०८॥

- उसी प्रकार भिन्न आचार स्थित होने पर भी सर्वज्ञ तत्त्व का अभेद होने

DATE ___/___/_____

से सभी सर्वज्ञ वादी उस तत्त्व की ओर जाने वाले जानना।

★ नृपति के आश्रित पुरुषों की तरह सर्वज्ञ तत्त्व का अभेद होने से सभी सर्वज्ञ वादी अर्थात् जिनादि सर्वज्ञों के मत भेद का अवलंबन करने वाले सभी उस सर्वज्ञ तत्त्व की ओर जाने वाले हैं अर्थात् सभी का लक्ष्य सर्वज्ञता की प्राप्ति है।

★ प्र. भिन्न-भिन्न क्रिया करते हुए भी वे एक सर्वज्ञ तत्त्व के उपासक हैं? कैसे
उ. हाँ, भिन्न-भिन्न आचार में रहे हुए भी वे सभी एक ही सर्वज्ञ तत्त्व के उपासक हैं क्योंकि उनमें उस प्रकार का अधिकार भेद है अर्थात् जिन्हें जैन कुल मिला है, वे मंद मिथ्यात्वी होने के कारण उच्च भूमिका के आचार पालन में समर्थ हैं किंतु जो अन्य दर्शन वाले हैं, वे स्वयं की भूमिका अनुसार आचार के अधिकारी हैं।

सर्वज्ञ की चर्चा का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

न भेद एव तत्त्वेन सर्वज्ञानां महात्मनाम्
तथा नामादिभेदे ऽपि भाव्यमेतन्महात्मभिः॥ १०३॥

- नामादि का भेद होने पर भी तत्त्व से सर्वज्ञ ~~महात्मान~~ महात्माओं का भेद नहीं है, यह महात्माओं द्वारा भावन करने योग्य है।

★ उस प्रकार के इष्ट अथवा अनिष्ट नाम आदि भेद होने पर भी परमार्थ से भाव सर्वज्ञों में कोई भेद ही नहीं है।

★ इस वस्तु को महात्माओं द्वारा विचारी जानी चाहिए। प्र. कैसे विचारना चाहिए? उ. श्रुत, मेधा और असंमोह के सार वाली ऐसी प्रज्ञा, बुद्धि से विचारना चाहिए अर्थात् अपने ज्ञान से (आगम संबंधी ज्ञान), बुद्धि से (अनुमान रूप बुद्धि) और असंमोह से (योग अभ्यास से निश्चित, निर्णित होने के कारण असंमोह वाली प्रज्ञा) विचारना चाहिए।

पहले ग्रंथकार भ. ने युक्ति से बताया कि सभी दर्शनवादी एक ही सर्वज्ञ के

DATE ___/___/___

उपासक हैं। अब शास्त्र है गर्भ जिसका अर्थात् शास्त्रीय युक्ति से अन्य उपपत्ति यानि इस बात को स्वीकारने की अन्य युक्ति कहते हैं-

चित्राचित्रविभागेन यच्च देवेषु वर्णिता
भक्तिः सयोगशास्त्रेषु ततोऽप्येवमिदं स्थितम् ॥110॥

- देवों के विषय में सयोग शास्त्रों में चित्र-अचित्र विभाग से भक्ति वर्णित की गई है, इस कारण से भी यह (श्लोक 109 का कथन) इस प्रकार ही सम व्यवस्थित है।

★ योगशास्त्र तो बहुत सारे हैं किन्तु राजयोग, हठयोग आदि असत् योग शास्त्रों के वर्जन के लिए यहाँ सद् योग शास्त्र लिखा है।

★ ऐसे सद् योग शास्त्रों में, जिनमें स्व-अध्यात्म की चिंता की गई हो, ऐसे शास्त्रों में देवों के विषय में भक्ति दो प्रकार के विभाग से वर्णन कराई है-(i) लोकपालादि संसारी देवों के विषय में चित्र यानि भिन्नप्रकार की भक्ति (ii) मुक्त देवों के विषय में अचित्र यानि समान प्रकार की भक्ति।
अर्थात् लोकपालादि संसारी देवों की भक्ति अनेक प्रकारों से की जाती है किंतु मुक्त देवों की भक्ति एक ही प्रकार से की जाती है।

★ इस वशास्त्र वचन से यह बात साबित होती है कि • मुक्त देवों की एक ही प्रकार की भक्ति होने से, उनमें कोई भेद नहीं है, मात्र नामादि भेद है। इसलिए समान भक्ति होने के कारण से भी श्लोक 109 का प्रस्तुत कथन इस प्रकार ही है अर्थात् सही ही है, यह सिद्ध हुआ।

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं-

संसारिषु हि देवेषु भक्तिस्तत्त्वायगामिनाम्
तदतीते पुनस्तत्त्वे तदतीतार्थयायिनाम् ॥111॥

-संसारी देवों की निकाय में जाने वालों की भक्ति संसारी देवों के विषय में है और संसारातीत अर्थ की ओर जाने वालों की भक्ति संसारातीत तत्व में है।

DATE __/__/____

★ संसारी देवों की निकाय में उत्पन्न होकर संसारी सुख-भोगों की लालसा रखने वाले लोग संसारी देवों की भक्ति करते हैं।

★ किंतु जो योगी संसार से अतीत मार्ग पर चलने वाले हैं, वे शाश्वत सुखों की लालसा रखने वाले संसार से अतीत तत्त्व में भक्ति करते हैं।

संसारी देवों की भक्ति और संसारातीत तत्त्व की भक्ति के विशेष भेद को कहते हैं-

चित्रा चाद्येषु तद्रागतदन्यद्वेषसङ्गता
अचित्रा चरमे त्वेषा शमसाराखिलैव हि ॥112॥

- आद्य पक्ष में भक्ति स्व देव के राग और अन्य के द्वेष के संग वाली, बहुत प्रकार वाली है, दूसरे पक्ष में तो यह भक्ति संपूर्ण शम प्रधान है।

★ आद्य पक्ष अर्थात् संसारी देवों संबंधी भक्ति बहुत प्रकार वाली तथा स्वयं के अभीष्ट देव प्रति राग और अभीष्ट देव से अन्य देवों प्रति द्वेष से युक्त है क्योंकि यह भक्ति मोहगर्भित है। अर्थात् यह भक्ति संसारी सुख की अपेक्षा सहित और अज्ञानता से होती है।

★ इस विपरीत दूसरे पक्ष अर्थात् संसारातीत तत्त्व में भक्ति एक ही प्रकार वाली तथा वह भी शम यानि समता प्रधान होती है। यह भक्ति संपूर्णत: शम प्रधान होती है क्योंकि इस भक्ति में उस प्रकार के संमोह का अभाव है अर्थात् इन जीवों पक्षपात, दृष्टिराग आदि का अभाव होता है और उनका लक्ष्य भी वीतराग, सर्वज्ञ आदि गुणों की ओर होता है।

संसारी देवों की भक्ति विचित्र होने का कारण दो श्लोक द्वारा बताते हैं-

संसारिणां हि देवानां यस्माच्चित्राण्यनेकधा
स्थित्यैश्वर्यप्रभावाद्यै: स्थानानि प्रतिशासनम् ॥113॥

- संसारी देवों के स्थान हर शासन (दर्शन के हिसाब से) स्थिति, ऐश्वर्य, प्रभाव आदि द्वारा अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र हैं। (यस्मात् का संबंध श्लोक 112 में तस्मात् से है)

DATE ___/___/___

* त्रैलोक्यपात्र आदि संसारी देवों के स्थान हर दर्शन के हिसाब से स्थिति, ऐश्वर्य प्रभाव आदि द्वारा अनेक प्रकारों से अनेक आकार वाले हैं', आदि शब्द से सहज रूप आदि को ग्रहण करना है। अर्थात् किसी देव की स्थिति यानि आयु कम है तो किसी की ज्यादा है, किसी का ऐश्वर्य यानि संपत्ति कम है तो किसी की ज्यादा है, किसी देव का प्रभाव कम है तो कोई अन्य ज्यादा प्रभाव वाला है यानि वह जल्दी प्रसन्न हो जाता है। किसी का सहज रूप शांत है, तो किसी का उग्र है। कोई विमान में रहता है तो कोई भवन में रहता है। इस प्रकार ब्रह्मांड की त्रिविधता के भेद से अर्थात् हर दर्शन में संसारी देवों के तीनों त्रैलोक्य की त्रिविधता के भेद से अनेक भेद कहे हैं'।

तस्मात्तत्साधनोपायो नियमाच्चित्र एव हि
न भिन्ननगराणां स्यादेकं वर्त्म कदाचन ॥।५॥

-इस कारण से उनके साधन का उपाय भी अवश्य चित्र ही है। जैसे- भिन्न नगरों का मार्ग कभी भी एक ही नहीं होता।

* श्लोक ।।३ में कहे अनुसार संसारी देवों के स्थान चित्र होने से उन्हें साधने के उपाय अर्थात् उन्हें प्रसन्न करने के उपाय अवश्य चित्र ही होते हैं'।

* इस ही वस्तु त्रैलोक्य प्रसिद्ध उदाहरण से समझाते हैं- अलग-अलग नगर के मार्ग कभी भी एक नहीं हो सकते। यदि वे मार्ग एक ही हो जाएँ तो नगर के भेद की प्राप्ति नहीं होगी, सभी मार्ग से एक ही नगर आएगा। इसी प्रकार देवों के अलग-अलग स्थानों में जाने के भी अलग-अलग मार्ग है, इसलिए उन देवों की भक्ति अलग-अलग है।

उन देवों की भक्ति की विचित्रता कहते हैं-

इष्टापूर्तानि कर्माणि त्रैलोक्ये चित्राभिसन्धितः
नानाफलानि सर्वाणि द्रष्टव्यानि विचक्षणैः ॥।६॥

DATE ___/___/_____

- विचक्षणों द्वारा लोक में सभी इष्ट-पूर्त कर्म चित्र अभिसंधि के कारण अलग-अलग फल वाले देखने योग्य हैं।

* विचक्षण यानि विद्वान पुरुषों द्वारा लोक यानि प्राणि समूह में सभी इष्ट-पूर्त कर्म चित्र अभिसंधि यानि अलग-अलग अपेक्षाओं के कारण अलग-अलग फलवाले देखने योग्य हैं क्योंकि सभी इष्ट-पूर्त कर्मों के हेतु, प्रयोजन का भेद है। अर्थात् लोक में कोई यज्ञ राज्य प्राप्ति के लिए किया जाता है तो कोई स्वर्गप्राप्ति के लिए किया जाता है, इस प्रकार संसारी देवों की भक्ति चित्र-विचित्र है।

इष्ट के स्वरूप को कहते हैं-

ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षतः
अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥116॥

- याज्ञिकों द्वारा ब्राह्मणों के समक्ष अन्तर्वेदी में जो मंत्र के संस्कारों सहित दिया जाता है, वह इष्ट कहलाता है।

* जब यज्ञ किया जाता है, तब यज्ञ के मुख्य अधिकार पद पर नियुक्त याज्ञिक पुरोहित द्वारा अन्य ब्राह्मणों के समक्ष अन्तर्वेदी में मंत्रसंस्कारों से युक्त जो सुवर्ण आदि दिया जाता है, उसे इष्ट कहते हैं।

* इसे दान क्यों नहीं कहते, इष्ट क्यों कहते हैं? उ. क्योंकि यहाँ विशेष लक्षणों का योग है। अर्थात् सामान्य से कोई चीज़ दी जाए, उसे दान कहते हैं किंतु मंत्र संस्कार से युक्त, अन्य ब्राह्मणों के समक्ष, यज्ञ के अधिष्ठित देव भी जिससे तुष्ट हों, ऐसे विशेष लक्षणों से युक्त को इष्ट कहा जाता है

पूर्त के स्वरूप को कहते हैं-

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च
अन्नप्रदानमेतत्तु पूर्तं तत्त्वविदो विदुः ॥117॥

- वापी, कुआँ, तालाब और देव मंदिर आदि बनवाना तथा याचकों को दान

DATE ___/___/___

करना, इसमें सब कार्य को तत्त्व के जानकार पूर्त कहते हैं।

* वापी, कुआँ, तालाब लोक प्रसिद्ध ही हैं।
* देवों के मंदिरों और वसति आदि तथा लौकिक ऐसा अन्नप्रदान तथा इस प्रकार के अन्य परोपकार के कार्यों को तत्त्व के जानकार पूर्त परिभाषा से कहते हैं।

हृदय में, अन्तर में रहे भावों के कारण भी भिन्न फल प्राप्त होता है, वह कहते हैं-

अभिसन्धेः फलं भिन्नमनुष्ठाने समेऽपि हि
परमोऽतः स एवेह वारीव कृषिकर्मणि ॥११८॥

- समान अनुष्ठान होने पर भी अभिसंधि से भिन्न फल होता है। इस कारण से कृषि में पानी की तरह यहाँ अभिसंधि ही प्रधान है।

* अभिसंधि - उस प्रकार के आशय रूप लक्षण वाली, अपेक्षा-कांक्षा। उस क्रिया के द्वारा जीव क्या फल चाहता है, वह अपेक्षा।
* इष्ट, पूर्त आदि समान अनुष्ठान होने पर भी हृदय के भाव से भिन्न फल, संसारि देव के स्थान आदि भिन्न फल प्राप्त हो सकता है।
* इस कारण से यहाँ फल सिद्धि में अभिसंधि, हृदय का भाव ही मुख्य कारण है।
* यहाँ दृष्टान्त देते हैं- जैसे कृषि में पानी प्रधान कारण है, वैसे ही फल सिद्धि में अभिसंधि प्रधान कारण है। (कृषि में पानी की प्रधानता लोक रूढ़ि से प्रसिद्ध ही है।)

अभिसंधि में भेद होने के कारण कहते हैं-

रागादिभिरयं चेह भिद्यतेऽनेकधा नृणाम्
नानाफलोपभोक्तॄणां तथा बुद्ध्यादिभेदतः ॥११९॥

- रागादि से और बुद्धि आदि के भेद से नाना फल भोगने वाले मनुष्यों की अभिसंधि

DATE ___/___/_____

अनेक प्रकार से भिन्न होते हैं।

★ यहाँ लोक में विचित्र प्रकार के फल को भोगने वाले मनुष्यों की अभिसंधि यानि हृदय का आशय कौमल्य, मध्यम और अधिक रूपी भेद से भिन्न होने में दो कारण हैं- (i) रागादि दोष- जिन जीवों के रागादि दोष मंद हो गए हैं, वे जीव धर्मानुष्ठान तीव्र भाव से करते हैं। (ii) बुद्धि आदि के भेद से भी भाव में मंद-तीव्र का फर्क होता है।

बुद्धि आदि भेद को समझाते हैं-

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधो बोध इष्यते
तद्भेदात् सर्वकर्माणि भिद्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥१०॥

- बुद्धि, ज्ञान और असंमोह, तीन प्रकार का बोध कहलाता है। इसके भेद से सभी जीवों के सभी कर्म भिन्न होते हैं।

★ शास्त्रों में बोध तीन प्रकार का कहा गया है - बुद्धि, ज्ञान, असंमोह।

★ इस बोध के भेद से सभी जीव के इष्ट आदि कर्म यानि अनुष्ठान भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि अनुष्ठान (तद्) के हेतु का भेद होने से उसका फल भेद अवश्य होता है। अनुष्ठान का हेतु यानि बोध। जीव के आशय का या भावना का भेद होने से, अनुष्ठान के फल में भी भेद होता है।

बुद्धि आदि के लक्षण कहते हैं-

इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम्
सदनुष्ठानवच्चैतदसंमोहोऽभिधीयते ॥११॥

- इंद्रियों के अर्थ का आश्रय करने वाली बुद्धि है। आगमपूर्वक बोध वह ज्ञान। सदनुष्ठानवाला ज्ञान वह असंमोह कहलाता है।

★ बुद्धि- इंद्रियों के अर्थ/विषयों का आश्रय करने वाली बुद्धि है। जैसे- कोई तीर्थ यात्री को जाते हुए देखकर तीर्थ यात्रा गमन की बुद्धि होती है वैसे इस बोध में जीव इंद्रियों की सुख-सुविधा को देखकर धर्मानुष्ठान करता है अथवा

DATE __/__/____

प्रभावना, बहुमान आदि के लक्ष्य से अनुष्ठान करे, ऐसा बोध 'बुद्धि'।

* ज्ञान- आगम पूर्वक जो बोध वह ज्ञान। इस बोध में जीव को ज्ञान-समझ तो होती है कि अनुष्ठान क्यों, कैसे, कब करना चाहिए किंतु कोई कारण से जीव संपूर्णतया अनुष्ठान नहीं कर सकता, उसके भाव में कहीं-न कहीं कमी रह जाती है।

* असंमोह - यहाँ ~~जीव~~ को सदनुष्ठान सहित जो ज्ञान होता है, वह असंमोह। जीव को अनुभूति होने से उसे कोई सम्मोह नहीं रहता। यहाँ सम्मोह नहीं होने से यह बोधराज कहलाता है।

* विशेष- जीव अनुष्ठान का पालन तो तीनों स्थिति में करता है किंतु ~~यदि~~ यदि सिर्फ इंद्रियों के विषय पुष्ट करने का आशय हो तो वह बुद्धि पूर्वक अनुष्ठान; थोड़ी प्रभु भक्ति तथा थोड़ा इंद्रियों का सुख, ऐसा आशय हो तो ज्ञान; संपूर्णतया सदनुष्ठान वाला बोध असंमोह।

लोक प्रसिद्ध उदाहरण से समझाते हैं-

रत्नोपलम्भतज्ज्ञानतत्प्राप्त्यादि यथाक्रमं
इहोदाहरणं साधु ज्ञेयं बुद्ध्यादिसिद्धये ॥122॥

- बुद्धि आदि की सिद्धि के लिए रत्न का दर्शन, उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति यथाक्रम उदाहरण अच्छी तरह से जानने योग्य है।

* रत्न का दर्शन, देखना, हाथ में उठाकर देखना इस प्रकार का बुद्धि रूप बोध है।

* रत्न का ज्ञान, यथार्थ विशिष्ट बोध करने के समान ज्ञान रूप बोध है।

* रत्न की प्राप्ति होना, उसे प्राप्त करने के समान असम्मोह है।

* भावार्थ यह है कि- जैसे रत्न का दर्शन जीव को किंचित् सुखकर होता है तथा वह उसे प्राप्त करने की इच्छा करता है, वैसे ही बुद्धि पूर्वक अनुष्ठान जीव को किंचित् सुखकर होता है तथा दूसरे को अनुष्ठान करता देख उसे भी इच्छा होती है कि मुझे भी सदनुष्ठान करना चाहिए।

DATE ___/___/_____

इसी प्रकार ज्ञान में जीव आगमों का अध्ययन गुरुनिश्रा में करता है, जैसे- रत्न प्राप्ति की इच्छा वाला जीव रत्न के परीक्षकों के पास रत्न संबंधी ज्ञान प्राप्त करता है। जैसे - जीव को रत्न प्राप्ति होती है, वैसे ही सम्मोह दूर होने पर जीव सदनुष्ठान करता है। क्योंकि असम्मोह का गर्भ बोध है।

★ प्र. इस उदाहरण को सुंदर क्यों कहा? उ. क्योंकि उस उदाहरण से का अभिप्रेत अर्थ का साधकत्व है अर्थात् वह उदाहरण अभिप्रेत अर्थ को समझाने के लिए उपयुक्त है।

सदनुष्ठान के लक्षण कहते हैं-

आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः सम्पदागमः
जिज्ञासा तन्निसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ॥123॥

- आदर, करण में प्रीति, अविघ्न, सम्पदागम, जिज्ञासा, निसेवा, ये सद् अनुष्ठान के लक्षण हैं।

★ सद् अनुष्ठान के सात लक्षण-

(i) आदर - इष्ट आदि में यत्न का अतिशय। अनुष्ठान में सफलता प्राप्त करने के लिए अतिशय यत्न करना, उसे आदर कहते हैं।

(ii) करण में प्रीति - अनुष्ठान करने में रागात्मक प्रीति होना अर्थात् अनुष्ठान पर राग होने से मन उसमें तुरंत जुड़ जाए।

(iii) अविघ्न - अनुष्ठान संपूर्ण न हो तब तक कोई विघ्न न आए, यह सद् अनुष्ठान का लक्षण है। जब अनुष्ठान राग पूर्वक और बहुमान पूर्वक होता है, तब जीव को शुभ भावों की प्राप्ति होती है। ऐसे शुभ भावों से जीव में एक अदृष्ट सामर्थ्य उत्पन्न होता है (सूक्ष्म बल), जिससे आने विघ्न शांत हो जाते हैं।

(iv) सम्पदागम - संपत्ति का आगम। उन शुभ भावों से उपार्जित पुण्य से की सिद्धि से संपत्ति का आगम होता है, यह सदनुष्ठान का चौथा लक्षण है। संपत्ति दो प्रकार से (i) बाह्य - यश, कीर्ति आदि (ii) अभ्यंतर - गुण रूप संपत्ति। यहाँ जीव को दोनों प्रकार की संपत्ति प्राप्त होती है।

DATE __/__/____

(v) जिज्ञासा - इष्टादि विषयक जिज्ञासा। सद् अनुष्ठान के बारे में तथा स्वयं से ऊपर वाली भूमिका के बारे में जानने की जिज्ञासा इस जीव को होती है।

(vi) तन्निसेवा (तज्ज्ञसेवा) - अनुष्ठान जानने वाले की सेवा।

(vii) तदनुग्रह (च शब्द से) - अनुष्ठान जानने वाले विद्वान् पुरुषों का अनुग्रह।

* प्र. ये लक्षण वाला अनुष्ठान सद् अनुष्ठान कैसे है? उ. क्योंकि इस अनुष्ठान को अनुबंध सारत्व होने से अर्थात् ये लक्षण वाला अनुष्ठान अनुबंध के सार वाला होता है। उसे शुभ कर्मों का अनुबंध होता है।

बुद्धिपूर्वक अनुष्ठान का फल कहते हैं-

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि सर्वाण्येवेह देहिनाम्
संसारफल्यदान्येव विपाकविरसत्वत: ॥124॥

- जीवों के सभी बुद्धिपूर्वक अनुष्ठान विपाक विरसता होने से संसार फल ही देने वाले हैं।

* पूर्व में कथित स्वरुप वाली बुद्धि पूर्वक किए हुए सभी अनुष्ठान सामान्य से जीवों को संसार रूप फल ही देने वाले हैं क्योंकि वे सभी अशास्त्रपूर्वक किए गए हैं अर्थात् शास्त्र में कथित जयणा आदि का पालन उनमें नहीं होता है।

* तथा अशास्त्र पूर्वक किए गए वे अनुष्ठान अवश्य ही विपाक में विरस वाले हैं अर्थात् विपाक में विपरीत फल ही देने के वाले हैं।

ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान का फल कहते हैं-

ज्ञानपूर्वाणि तान्येव मुक्त्यङ्गं कुलयोगिनाम्
श्रुतशक्तिसमावेशादनुबन्धफल्यत्वत: ॥125॥

- श्रुतशक्ति के समावेश से अनुबंध फल वाले होने से ज्ञान पूर्वक वही कर्म कुल योगी के लिए मुक्ति के अंग हैं।

DATE ___/___/_____

* पूर्वोक्त ज्ञान के निबंधन वाले वे ही कर्म/अनुष्ठान कुलयोगियों के लिए मुक्ति के अंग होते हैं।

* यहाँ कुल योगी का ग्रहण अन्य योगियों की असंभावना दिखाने के लिए है। योगी चार प्रकार (i) गोत्र (ii) कुल (iii) प्रवृत्त-चक्र (iv) निष्पन्न। इन चार में से गोत्र योगी (नाममात्र के योगी) और निष्पन्न योगी को यह अनुष्ठान होता नहीं है क्योंकि गोत्र योगी इस अनुष्ठान के अयोग्य है और निष्पन्न योगी को योग संपूर्णतया सिद्ध हो चुका है। प्रवृत्त-चक्र योगियों को यह अनुष्ठान प्राप्त हो चुका है तथा वे असंमोह को साधने का प्रयत्न करते हैं। इ यहाँ ज्ञान पूर्वक का अनुष्ठान यदि असंमोह की ओर आगे नहीं बढ़ेगा तो उन्हें भी यह अनुष्ठान मुक्ति का अंग नहीं बन सकता।

* यह अनुष्ठान मुक्ति का अंग किस हेतु से बनता है? उ. श्रुत शक्ति के समावेश से अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा हेय-उपादेय आदि का ज्ञान होना, वह श्रुत की शक्ति। ऐसी श्रुत शक्ति का इस अनुष्ठान में समावेश होने से यह अनुष्ठान परंपरा से मुक्ति का अंग बनता है। यह श्रुत शक्ति अमृत समान है। इस श्रुत शक्ति के अभाव मुख्य कुलयोगित्व संभव नहीं है अर्थात् जिस योगी में यह श्रुत शक्ति है वही कुल योगी है।

* श्रुत शक्ति से अनुष्ठान मुक्ति अंग कैसे बनता है? उ. तात्त्विक अनुबंध का ध्रुवभूत पन होने से अर्थात् तात्त्विक रीति से अनुबंध वही है, जो मुक्ति होने तक साथ रहे। ऐसा ही अनुबंध इस श्रुत शक्ति से चालू होता है जो परंपरा से मुक्ति प्राप्त कराता है।

असंमोह पूर्वक अनुष्ठान का फल कहते हैं-

असम्मोहसमुत्थानि त्वेकान्तपरिशुद्धितः
निर्वाणफलदान्याशु भवातीतार्थयायिनाम् ॥126॥

- असम्मोह पूर्वक किए गए अनुष्ठान एकान्त परिशुद्ध होने से मोक्षमार्ग पर

DATE ___/___/___

चत्वने वाले को तुरंत ही निर्वाण फल देने वाले हैं।

★ पूर्वोक्त असंमोह के निबंधन वाले होने से ये अनुष्ठान एक परिपाक के वश से एकान्त परिशुद्ध होते हैं अर्थात् एकान्त से शुद्ध-विशुद्ध होते हैं। क्योंकि पूर्व के अनुष्ठान में पुण्य/पाप का बंध भी था किंतु यहाँ सिर्फ निर्जरा है।

★ ये अनुष्ठान शीघ्र ही अर्थात् अनंतर ही (परंपर नहीं) मुक्ति फल देने वाले हैं।

★ किन जीवों को मुक्ति फल देने वाले हैं? उ. भव यानि संसार से अतीत अर्थ/विषय में की ओर जाने वाले जीवों को और जिन्होंने सम्यक् प्रकार से पर तत्त्व को जान लिया है अर्थात् पर तत्त्व यानि उत्तम तत्त्व।

इन्हीं जीवों के लक्षण कहते हैं-

प्राकृतेष्विह भावेषु येषां चेतो निरुत्सुकम्
भवभोगविरक्तास्ते भवातीतार्थयायिनः ॥127॥

-प्रकृति संबंधी भावों में जिनका मन उत्सुकता रहित है और जो संसार के भोगों से विरक्त हैं, वे भवातीतार्थयायी हैं।

★ सांख्य दर्शन में दो पदार्थ माने गए (i) पुरुष (आत्मा) (ii) प्रकृति। प्रकृति में से क्रमशः बुद्धि, इंद्रिय, पंच भूत, इंद्रियों के विषय आदि की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रकृति संबंधी भावों में शब्द से लेकर बुद्धि तक के पदार्थों का समावेश है।

★ ऐसे भावों में जिनका मन निःसंगता के समावेश से उत्सुकता रहित है अर्थात् जिनका निःसंग, राग-द्वेष रहित हो गया है, वे तथा जो भव-संसार के भोगों से विरक्त हैं अर्थात् मुक्त जीव समान वीतराग हैं, वे जीव भवातीतार्थयायी कहलाते हैं।

★ प्र. वे जीव भवातीतार्थयायी को कहलाते हैं? उ. क्योंकि उनका चित्त

DATE __/__/____

संसार से स्पर्शित/स्पृष्ट नहीं है।

एक एव तु मार्गोऽपि तेषां शमपरायणः
अवस्थाभेदभेदेऽपि जलधौ तीरमार्गवत् ॥128॥

- समुद्र में किनारे के मार्ग की तरह अवस्था विशेष का भेद होने पर भी उन भवातीतार्थ मार्ग पर चलने वालों का शमपरायण ऐसा मार्ग भी एक ही है।

★ उन भवातीत तत्त्व की ओर जाने वाले योगियों का मार्ग भी एक ही है, भले ही उनकी अवस्था में हो अर्थात् गुणस्थानक में भेद हो सकता है किंतु मार्ग तो एक ही है।

★ मार्ग कैसा है? (i) चित्त विशुद्धि के लक्षण वाला है (ii) शम परायण, शम में निष्ठ, शम भाव की प्रधानता वाला है।

★ दृष्टांत देते हैं- जैसे समुद्र में किनारे की ओर तैरने वालों का मार्ग एक ही होता है किन्तु उन्म उनमें अवस्था भेद यानि कोई दूर हो कोई पास में हो, इस प्रकार के भेद से अवस्था भेद हो सकता है। वैसे ही मोक्ष का मार्ग सभी के लिए एक ही है किंतु जीवों की अवस्था में गुणस्थान की अपेक्षा से भेद होता है।

★ 'मार्गोऽपि' में अपि से कहना है कि सभी साधकों के सर्वज्ञ तो एक ही है किंतु उनका मार्ग भी एक ही है।

उस भवातीतार्थ पर-श्रेष्ठ तत्त्व को कहते हैं-

संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम्
तदप्येकमेव नियमाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः॥129॥

- प्रधान, निर्वाण संज्ञा वाला संसारातीत तत्त्व तत्त्व से शब्द भेद होने पर भी अवश्य तत्त्व से वह एक ही है।

★ निर्वाण संज्ञा वाला, और प्रधान ऐसा संसारातीत तत्त्व शब्द भेद होने पर भी अर्थात् अलग-अलग दर्शन में अलग-अलग शब्द से कहा जाने वाला

DATE ___/___/___

तत्त्व से अवश्य वह एक ही है।

इस शब्द भेद को ही कहते हैं-

सदाशिवः परं ब्रह्मा सिद्धात्मा तथातेति च
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः ॥130॥

- सदाशिव, परंब्रह्म, सिद्धात्मा, तथाता इस प्रकार इत्यादि अनेक शब्दों द्वारा वह कहा जाता है किंतु अन्वर्थ से वह एक ही है।

★ सदाशिव- हमेशा सभी कल्य जिसमें शिव यानि कल्याण है, कभी भी अशिव नहीं है, जो तीनों काल में परिशुद्ध है क्योंकि वहाँ सभी अशिवों का अभाव है।

★ परंब्रह्मा- परं यानि प्रधान और बृंहत्त्व-बृंहकत्व द्वारा सद्भाव का आत्यंबन से होने से ब्रह्म अर्थात् बृंहत्त्व यानि स्वयं महान् है, बृंहकत्व यानि दूसरों को महान् बनाने वाला है। इन दोनों गुणों द्वारा जो सद्भाव की प्राप्ति का आत्यंबन है, उसे ब्रह्मा कहते हैं।

★ सिद्धात्मा- कृतकृत्य आत्मा, निष्ठ निष्ठित अर्थ आत्मा अर्थात् जिस आत्मा ने सभी कृत्य पूर्ण कर लिए हैं वह कृतकृत्य और सभी अर्थ यानि प्रयोजन जिसने निष्ठित, संपूर्ण कर लिए हैं वह निष्ठितार्थ।

★ तथाता- हमेशा उसी प्रकार के रहने से 'तथाता' कहते हैं। 'तथा' में ता प्रत्यय लगा है। वे हमेशा उसी प्रकार रहते हैं, उनमें कभी कोई परिवर्तन या विकार नहीं आने वाला।

इस संज्ञा के लिए पाठ देते हैं- उपादान और निमित्त कारणों द्वारा हमेशा तथाभाव होने से हमेशा ध्रुव अवस्था का अधिकारीत्व होने से, यह अवस्था तथाता कहलाती है। (1) यह अवस्था प्रकृति और पुरुष के विसंयोग यानि वियोग वाली है, तीन दुःखों से रहित है (दुःखदुःख, संस्कार दुःख और परिणाम दुःख, लगभग सांख्य दर्शन का मत है), जीव की अत्यंत श्रेष्ठ अवस्था है और यथार्थ फल देने वाली है।

DATE ___/___/_____

* इत्यादि शब्दों से वह निर्वाण कहा जाता है किंतु अन्वर्थ से अर्थात् व्युत्पत्ति अर्थ की नीति से वे सभी एक ही हैं।

किस प्रकार वे सभी एक ही हैं:-

तत्त्वलक्षणाविसंवादान्निराबाधमनामयम्
निष्क्रियं च परं तत्त्वं यतो जन्माद्ययोगतः ॥13॥

- वे सभी एक इसलिए हैं क्योंकि उन सभी में निर्वाण के लक्षण से विसंवाद नहीं है, वहाँ जन्मादि के अयोग है, इसलिए वह निराबाध है, अनामय है, निष्क्रिय है और श्रेष्ठ तत्त्व है।

* वे सभी पद एक ही है क्योंकि उन सभी में निर्वाण के लक्षणों के साथ विसंवाद नहीं है।

* निर्वाण के लक्षण कहते हैं- वहाँ जन्मादि का अयोग होने से वह पद/तत्त्व निराबाध है, अनामय है, निष्क्रिय है।

* (i) निराबाध- आबाधा से रहित, आबाधाएँ जिसमें से निकल गई है।
(ii) अनामय- द्रव्य और भाव रोग विद्यमान नहीं है जिसमें
(iii) निष्क्रिय- वे क्रिया रहित हैं क्योंकि उन्हें कर्तव्य का अभाव है और कारण का भी अभाव है।

इस चर्चा का ऐदंपर्यार्थ कहते हैं:-

ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ विवाद उपपद्यते ॥14॥

- असंमोह द्वारा यह निर्वाण तत्त्व तत्त्वसे जानने पर बुद्धिमानों को उनकी भक्ति विषय विवाद नहीं होता।

* यह निर्वाण तत्त्व असंमोह बोध से ज्ञात होने पर अर्थात् अनुभूति होने पर, परमार्थ से जानने पर बुद्धिमान पुरुषों को उस तत्त्व की सेवा में कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता।

DATE __/__/____

प्र. उन्हें विवाद उत्पन्न क्यों नहीं होता ? उ. क्योंकि उनके तत्त्वज्ञान में भेद का अभाव है अर्थात् वे सभी निर्वाण तत्त्व को और उसकी उपासना एक रूप ही जानते हैं।

यदि किसी को विवाद हो तो उसे क्या कहेंगे ? उ. यदि किसी को विवाद हो तो प्रेक्ष उसके प्रेक्षावत्त्व का विरोध न होता है अर्थात् हमें समझ लेना चाहिए कि वह बुद्धिमान् नहीं है और उसने अभी परमार्थ से निर्वाण तत्त्व को असंमोह बोध से जाना नहीं है।

अब निर्वाण तत्त्व को सर्वज्ञता के साथ जोड़ते हैं-

सर्वज्ञपूर्वकं चैतन्नियमादेव यत्स्थितम्
आसन्नोऽयमृजुर्मार्गस्तद्भेदस्तत्कथं भवेत् ॥133॥

- यह निर्वाण तत्त्व निश्चय नियम से ही सर्वज्ञ पूर्वक रहा हुआ है और यह ऋजु मार्ग निर्वाण के पास में है, इसलिए सर्वज्ञ का भेद कैसे हो सकता है ?

यह अधिकृत निर्वाण नामक तत्त्व यानि मोक्ष नियमपूर्वक अवश्य सर्वज्ञ के साथ ही रहा हुआ है अर्थात् मोक्ष सर्वज्ञता प्राप्त करने के बाद होता है क्योंकि असर्वज्ञ को निर्वाण की अनुपपत्ति है अर्थात् असर्वज्ञ कभी मोक्ष में नहीं जाते।

सर्वज्ञ के लक्षण वाला यह मार्ग यानि मोक्ष का मार्ग सीधा-सरल मार्ग है और निर्वाण के एक-दम नजदीक में है।

यह सिद्ध हो गया कि सभी की सर्वज्ञता एक ही, मोक्ष मार्ग भी एक ही है और निर्वाण भी एक ही है। इस कारण उन सर्वज्ञ में भेद कैसे हो सकता है अर्थात् सर्वज्ञों में मतभेद कैसे हो सकता है ? यानि उनमें कोई मतभेद नहीं हो सकता, वे सभी एक मत वाले ही हैं।
इस प्रकार श्लोक 102 की बात सिद्ध हुई।

कोई शंका करता है कि सर्वज्ञ सभी एकमत वाले हैं तो उनकी देशना

DATE ___/___/_____

में भेद क्यों होती है?

चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥134॥

- इन सर्वज्ञों की देशना शिष्यों की अनुगुणता से अलग-अलग होती है क्योंकि ये महात्मा भव व्याधि को नष्ट करने में श्रेष्ठ वैद्य हैं।

★ कपिल्य, सुगत आदि सर्वज्ञों की देशना शिष्य की आनुगुण्यता के कारण अर्थात् उस-उस प्रकार की शिष्य की अनुगुण्यता से यानि शिष्य की योग्य के हिसाब से, उसके अनुरूप होने के कारण अलग-अलग होती है।

★ देशना कैसी होती है, वह कहते हैं-

(i) नित्य आत्मा - पर्याय का उपसर्जन कर यानि गौण करके द्रव्य की प्रधानता वाली देशना में पदार्थ नित्य कहे जाते हैं। क्योंकि कालान्तर के अपाय से डरने वाले श्रोता उनकी देशना सुनते हैं अर्थात् उनके सामने ऐसे शिष्य थे जो कहते थे कि कालान्तर, अन्य काल में तो मेरा अभाव होने वाला है, फिर योग-साधना का क्या अर्थ! इसलिए उन्हें नित्यत की देशना दी गई।

(ii) अनित्य आत्मा - द्रव्य का उपसर्जन किया है जिसमें अर्थात् गौण किय है जिसमें ऐसी पर्याय प्रधान देशना में पदार्थ अनित्य कहे जाते हैं। क्योंकि उनके सामने भोग की आस्था वाले शिष्य थे अर्थात् उनके शिष्य योग छोड़कर भोग में ही डूबे रहते थे इसलिए अनित्यता क देशना दी गई, कि यह भोग तो अनित्य है इसलिए शाश्वत सुख की साधना करो।

★ ये सर्वज्ञ अन्वय और व्यतिरेक वाली वस्तु को नहीं जानते हैं, ऐसा नह है अर्थात् वे नित्य-अनित्य सभी वस्तुओं/पर्यायों को जानते हैं। यदि नहीं जानते तो सर्वज्ञत्व की अप्राप्ति होती अर्थात् यदि नहीं जानते तो वे सर्वज्ञ नहीं कहे जाते।

DATE ___/___/___

* इस प्रकार उनकी देशना तो उस प्रकार गुणों के संपादन से अदुष्ट यानि सुंदर ही है क्योंकि ये महात्मा भी शिष्यों की संसार रूपी व्याधि मिटाने में वैद्य समान है।

ये महात्मा श्रेष्ठ वैद्य समान है, तो उससे क्या?

यस्य येन प्रकारेण बीजाधानादिसम्भवः
सानुबन्धो भवत्येते तथा तस्य जगुस्ततः ॥135॥

- जिस जीव को जिस प्रकार सानुबंध बीजाधान आदि संभव है, ये महात्मा उसे उस प्रकार कहते हैं।

* जिस जीव को नित्य देशना आदि ~~प्रकार~~ लक्षण वाले जिस प्रकार से भवोद्वेग आदि होने से बीजाधान आदि का संभव है अर्थात् वैराग्य भाव प्रगट होने से सम्यक्त्व। बोधि। निर्वेद-संवेग का बीज आरोपित करना संभव है और आगे-आगे के गुणों की वृद्धि से वह बीज अनुबंध बने अर्थात् वैराग्य से अन्य आगे के गुणों की वृद्धि वह वैराग्य का बीज अन्य भव में ही साथ आने वाला हो, उस प्रकार से उस जीव को ये सर्वज्ञ देशना देते हैं।

* भावार्थ यह है कि जो जीव जिस प्रकार बोध पामे, उसे उस प्रकार ये सर्वज्ञ कहते हैं।

अथवा देशना भेद का अन्य कारण कहते हैं-

एकापि देशनैतेषां यद्वा श्रोतृविभेदतः
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यात् तथा चित्राऽवभासते ॥136॥

- इन सर्वज्ञों की देशना एक ही देशना अचिंत्य पुण्य सामर्थ्य के कारण श्रोताओं के भेद से उस प्रकार की चित्र-विचित्र भासित होती है।

* इन सर्वज्ञों के मुख से निर्गम का आश्रय करके देशना एक ही होती है।

* एक ही देशना भी सर्वज्ञों के अचिन्त्य पुण्य के सामर्थ्य से

DATE ___/___/_____

अर्थात् दूसरे को दोष देने के आश्रय वाले ग्रहण किए हुए कर्म के फल से यानि तीर्थंकर नामकर्मादि कर्मों के फल से, इस तथाभव्यत्व के भेद द्वारा श्रोताओं के भेद के कारण अर्थात् सभी जीवों का तथाभव्यत्व अलग-अलग होता है, इस भेद के कारण उन जीवों की सुनने-समझने और ग्रहण करने की शक्ति में भेद होता है। श्रोताओं में इस प्रकार का भेद होने से सभी श्रोताओं को वह देशना नित्य-अनित्य आदि प्रकार से अलग-अलग समझ में आती है।

★ इसमें पुण्य का सामर्थ्य क्या है? उ. पुण्य का सामर्थ्य यह है कि पुण्य के प्रभाव से देशना सभी जीवों को स्वयं के अनुकूल समझ में आती है।

इस देशना से श्रोताओं को लाभ होता है या नहीं? इस एक प्रश्न के समाधान के लिए कहते हैं कि 'इस प्रकार यह गुण नहीं है, ऐसा नहीं है' अर्थात् यह भी एक गुण ही है, इस बात को समझाते हुए कहते हैं-

यथाभव्यं च सर्वेषामुपकारोऽपि तत्कृतः
जायतेऽवन्ध्यताप्येवमस्याः सर्वत्र सुस्थिता ॥३७॥

- सभी श्रोताओं को भव्यत्व के अनुसार देशना से उपकार होता है। इस प्रकार इस देशना की अवंध्यता सभी जगह सुस्थित है।

★ इस देशना से निष्पन्न, ऐसा उपकार /गुण/लाभ सभी श्रोताओं को भव्यत्व के अनुसार होता है।

★ इस प्रकार गुण होने से इस देशना की अवंध्यता यानि अनिष्फलत्व सभी जगह होती है। अर्थात् यह देशना सभी जीवों के विषय में निष्फल नहीं है, इसका फल मिलता ही है।

अथवा देशना भेद का अन्य कारण कहते हैं-

DATE __/__/____

यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कात्यादियोगतः
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूल्यैवापि तत्त्वतः ॥138॥

- उस काल आदि के योग से उस-उस नय की अपेक्षा वाली चित्र देशना ऋषियों द्वारा दी गई। परमार्थ से वह देशना भी सर्वज्ञ की देशना रूपी मूल्य वाली ही है।

* दुःषम आदि काल के योग से, द्रव्य-अस्तिकाय आदि नयों का आश्रय करके कपिल, सुगत आदि ऋषियों की देशना अलग-अलग है।

* प्र. परंतु इन देशनाओं का मूल्य क्या? क्या ये देशनाएँ निर्मूल्य हैं अर्थात् स्वयं की मति के अनुसार दी गई है? उ. नहीं, यह देशना भी निर्मूल्य नहीं है। परमार्थ से इन देशना का मूल्य भी सर्वज्ञ की देशना ही है।

* इन देशना का मूल्य सर्वज्ञ है, ऐसा कैसे कह सकते हैं? उ. क्योंकि सर्वज्ञ प्रवचन के अनुसार ही उस प्रकार प्रवृत्ति होती है अर्थात् वे भले संपूर्ण-तया सर्वज्ञ प्रवचन के अनुसार नहीं है किंतु किंचित् प्रवृत्ति भी सर्वज्ञ अनुसार होने से यह सिद्ध होता है।

* यहाँ विशेष इतना है कि ग्रंथकार भ. अभी तक कपिल, सुगत आदि को भी सर्वज्ञ कह रहे थे किंतु इस श्लोक में उन्होंने सर्वज्ञ और ऋषियों को अलग किया।

इस चर्चा को प्रस्तुत ~~चौथी~~ ~~द्रष्टि~~ सर्वज्ञ की चर्चा के साथ जोड़ते हैं-

तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽवगृहशां सताम्
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः ॥139॥

- उनके अभिप्राय को नहीं जानकर महा अनर्थकरने के स्वभाव वाली ऐसी उनकी निंदा छद्मस्थ सज्जनों को योग्य नहीं है।

* कपिल, सुगत आदि सर्वज्ञों की देशना भी सर्वज्ञ संबंधी है। इस कारण से उन सर्वज्ञों के अभिप्राय को जाने बिना महा अनर्थ करने के

DATE ___/___/_____

स्वभाव वाला ऐसा उन सर्वज्ञों का प्रतिक्षेप यानि उनकी निंदा छद्मस्थ ऐसे प्रमाण करने वाले लोगों के लिए योग्य नहीं है।

* भावार्थ यह है कि छद्मस्थ जीवों को किसी भी अन्य धर्म की, देव की या गुरु की निंदा नहीं करना चाहिए।

यहाँ दृष्टांत बताते हैं-

निशानाथप्रतिक्षेपो यथाऽन्धानामसङ्गतः
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवावगृदृशामयम् ॥140॥

- जैसे अंधों को चंद्र का प्रतिक्षेप असंगत है, वैसे ही और चंद्र के भेद की कल्पना भी असंगत है, वैसे ही छद्मस्थ को यह सर्वज्ञ-प्रतिक्षेप असंगत है।

* चक्षु से रहित ऐसे अंध पुरुषों को चंद्र का प्रतिक्षेप और उस चंद्र के वक्र, चौरस आदि भेद की परिकल्पना असंगत है।

* वैसे ही छद्मस्थों को यह सर्वज्ञ का प्रतिक्षेप और 'महावीर, कपिल, बुद्ध' आदि भेद की कल्पना असंगत है।

न युज्यते प्रतिक्षेपः सामान्यस्यापि तत्सताम्
आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाच्छेदाधिको मतः ॥141॥

- सामान्य व्यक्ति का भी प्रतिक्षेप योग्य नहीं है, इसलिए सज्जनों को आर्य का अपवाद तो जिह्वा के छेद से अधिक माना गया है।

* 'यह विद्वान् है, यह विद्वान् नहीं है' इस प्रकार किसी सामान्य पुरुषादि का भी निराकरण स्वरूप प्रतिक्षेप योग्य नहीं है तो मुनी मुनियों को आर्य यानि सर्वज्ञ का अपवाद यानि परिभव, अपमान तो जिह्वा के छेद से भी अधिक माना गया है क्योंकि यह अपमान उस प्रकार का प्रत्यपाय हो सकता है अर्थात् गाढ़ कर्म बंधन से वह संसार में भटकने का कारण बन सकता है।

DATE __/__/__

कुदृष्टयादिवन्नो सन्तो भाषन्ते प्रायशः क्वचित्
निश्चितं सारवच्चैव किन्तु सत्त्वार्थकृत्सदा ॥142॥

- सज्जन प्रायः कुदृष्टि आदि से युक्त कभी नहीं बोलते। वे सदा निश्चित, सारभूत और परार्थकरण वाला ही वचन बोलते हैं।

★ सज्जन यानि मुनि कभी भी खराब देखा हुआ, खराब सुना हुआ और खराब जाना हुआ (पाठान्तर कुदृष्टं, कुश्रुतं, कुज्ञातं) नहीं बोलते।

★ तो वे कैसे बोलते हैं- वे हमेशा निश्चित यानि असंदिग्ध बोलते हैं, सार वाला तत्त्व बोलते हैं यानि निरर्थक नहीं बोलते और परोपकारी ऐसा वचन बोलते हैं।

इन सभी चर्चाओं का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्य योगिज्ञानादृते न च
अतोऽप्यत्रान्धकल्पानां विवादेन न किञ्चन ॥143॥

- योगी के ज्ञान बिना अतीन्द्रिय पदार्थ का निश्चय नहीं हो सकता। इस कारण से यहाँ अंध पुरुषों के समान छद्मस्थों को विवाद से कुछ प्राप्त नहीं होने वाला।

★ अतीन्द्रिय पदार्थ का निश्चय सर्वज्ञ आदि योगी के ज्ञान बिना नहीं हो सकता क्योंकि योगी ज्ञान से ही वे पदार्थ सिद्ध होते हैं।

★ इस कारण से यहाँ सर्वज्ञ के अधिकार में विशेष से तत्त्व को नहीं देखने वाले ऐसे, अंध पुरुष समान ऐसे छद्मस्थ को विवाद द्वारा कुछ प्राप्त नहीं होने वाला है।

★ यह विवाद कैसा है? उ. सत् चित्त का नाश है फल जिसका यानि जीव के सम्यग् चित्त का नाश करने वाला यह विवाद है।

न चानुमानविषय एषोऽर्थस्तत्त्वतो मतः
न चातो निश्चयः सम्यगन्यत्राप्याह धीधनः ॥144॥

DATE ___/___/_____

- यह पदार्थ तात्त्विक रीति से अनुमान का विषय नहीं है और अनुमान से यहाँ सम्यग् निश्चय भी नहीं है। बुद्धिमान् ऐसे भर्तृहरि भी अन्य अर्थ में कहते हैं (इस प्रकार श्लोक 145 से संबंध है)।

★ सर्वज्ञत्व के विशेष लक्षण वाला यह अतीन्द्रिय पदार्थ परमार्थ से अनुमान का विषय यानि युक्तियों का विषय नहीं माना गया है। तथा इस अनुमान से इस पदार्थ का सम्यग् निश्चय भी नहीं है।

★ अन्य शास्त्रों में सामान्य से सभी पदार्थ के लिए भर्तृहरि कहते हैं (इस प्रकार श्लोक 145 से संबंध है)।

भर्तृहरि क्या कहते हैं-

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥145॥

- कुशल नैयायिकों द्वारा यत्न से अनुमान किया अर्थ अन्य नैयायिकों द्वारा अन्य प्रकार से ही उपपादन किया जाता है।

★ अन्वय आदि के जानकार नैयायिक द्वारा सुयत्न से अन्वय आदि के अनुसार पदार्थ अनुमानित किया जाता है।

★ वही पदार्थ अन्य नैयायिक द्वारा ही उस प्रकार के असिद्ध आदि प्रकार से अन्यथा यानि एकदम भिन्न स्वस्वरूप से प्रतिपादन किया जाता है।

★ भावार्थ यह है- युक्तियों से तो एक शास्त्र के जानकार एकदूसरे का खंडन खंडन करते रहते हैं इसलिए युक्ति से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि कौन सर्वज्ञ है महावीर या बुद्ध!

अतीन्द्रिय पदार्थ युक्ति से सिद्ध नहीं होते, इस कथन को युक्ति से सिद्ध करते हैं

न्यायेन हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात् तेषु निश्चयः ॥146॥

- यदि अतीन्द्रिय पदार्थ हेतुवाद से जाने जा सकते हैं, तो इतने काल में तो

DATE ___/___/___

प्राज्ञ पुरुषों द्वारा उनके विषय में निश्चय हो चुका होता।

* यदि सर्वज्ञ आदि अतीन्द्रिय पदार्थ हेतुवाद यानि अनुमान वाद से जानने योग्य होते तो अभी तक इतने काल से प्राज्ञ-तार्किक पुरुष उनका निश्चय यानि ज्ञान कर चुके होते।

इस चर्चा को कुतर्क के साथ जोड़ते हैं-

न चैतदेवं यत्तस्माच्छुष्कतर्कग्रहो महान्
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥147॥

- 'अतीन्द्रिय पदार्थ का निश्चय अनुमान से होता है' इस प्रकार नहीं है इसलिए महान् ऐसा शुष्क तर्क रूपी ग्रह मिथ्या अभिमान का हेतु होने से मुमुक्षुओं द्वारा त्याज्य ही है।

* ये 'अतीन्द्रिय पदार्थ का निश्चय अनुमान से होता है' यह कथन इस प्रकार नहीं है इसलिए अतिरौद्र, महाभयंकर ऐसा शुष्क तर्क यानि कुतर्क रूपी ग्रह संसार से छुटने की इच्छा वाले मुमुक्षुओं द्वारा मिथ्या अभिमान का हेतु होने से छोड़ने योग्य है।

ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन मुमुक्षूणामसङ्गतः
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्याः किमनेन तत् ॥148॥

- ग्रह यानि आग्रह परमार्थ से सभी जगह मुमुक्षुओं को योग्य नहीं है क्योंकि मुक्ति में प्रायः धर्म भी छोड़ने योग्य ही है इसलिए इस आग्रह से क्या?

* परमार्थ से आग्रह सभी पदार्थों में आग्रह मुमुक्षुओं को योग्य/संगत नहीं है क्योंकि मुक्ति यानि मोक्ष होने पर प्रायः धर्म भी छोड़ने योग्य ही है, तो अन्य वस्तु में तो आग्रह से क्या काम अर्थात् इस आग्रह से मुमुक्षुओं को कुछ प्राप्त नहीं होने वाला।

* यहाँ प्रायः का ग्रहण क्षायिक भावों के धर्म के व्यवच्छेद के लिए है

DATE ___/___/_____

अर्थात् मुक्ति में क्षायोपशमिक और औपशमिक धर्मों को छोड़ना हैं, क्षायिक को नहीं।

अब यह चर्चा समाप्त करते हुए चौथी दीप्रा दृष्टि में जीव को क्या करना चाहिए, वह कहते हैं-

तदत्र महतां वर्त्म समाश्रित्य विचक्षणैः
वर्तितव्यं यथान्यायं तदतिक्रमवर्जितैः ॥१७॥

- इस कारण से यहाँ चौथी दृष्टि में विचक्षण पुरुषों द्वारा, महापुरुषों के मार्ग का आश्रय करके न्याय के अनुरूप, उनके मार्ग का उल्लंघन किए बिना वर्तन किया जाना चाहिए।

* अतीन्द्रिय पदार्थ में कुतर्क करना योग्य नहीं हैं इसलिए कि यहाँ चौथी दीप्रा दृष्टि के कथन में विचक्षण यानि पण्डित पुरुषों द्वारा महापुरुषों के मार्ग का आश्रय करके वर्तन किया जाना चाहिए।

* प्र. वर्तन कैसे किया जाना चाहिए? उ. (i) न्याय के अनुरूप यानि औचित्य के अनुरूप (ii) उनके मार्ग के उल्लंघन से वर्जित यानि उनके मार्ग में अतिचार से रहित वर्तन करना चाहिए।

जीव को और क्या करना चाहिए, वही तीन श्लोक से कहते हैं-

परपीडेह सूक्ष्मापि वर्जनीया प्रयत्नतः
तद्वत्तदुपकारेऽपि यतितव्यं सदैव हि ॥१८॥

- सूक्ष्म भी परपीड़ा लोक में प्रयत्न से छोड़ने योग्य हैं और इसी तरह हमेशा परोपकार में भी यत्न करना चाहिए।

* लोक में परपीड़ा यानि जिस कार्य से दूसरे को बाधा हो, वह सूक्ष्म भी यानि बड़ी पीड़ा की बात तो दूर किन्तु सूक्ष्म पर-पीड़ा भी प्रयत्न से यानि सूक्ष्म उपयोग द्वारा छोड़ने योग्य हैं।

* इसी प्रकार सूक्ष्म उपयोग रूप प्रयत्न से ही परोपकार में भी हमेशा

DATE __/__/__

अनुष्ठान के द्वार से यानि सत्कृत्यों द्वारा प्रयत्न करना चाहिए।

गुरवो देवता विप्रा यतयश्च तपोधना
पूजनीया महात्मानः सुप्रयत्नेन चेतसा ॥153॥

- गुरु, देव, विप्र, दीक्षित साधु, तपस्वी, ये ये महात्मा अच्छे प्रयत्न वाले चित्त से पूजने योग्य हैं।

* गुरु- माता-पिता आदि
* देवता- सामान्य से सभी देव (संसारी और मुक्त)
* विप्र- ब्राह्मण
* यति- दीक्षित हुए साधु
* तपोधन- तप रुपी धन है जिनका यानि मुनि, तपस्वी

ये सभी महात्मा यथायोग्य प्रकार से पूजने योग्य हैं।
कैसे? अच्छे प्रयत्न वाले चित्त से यानि आज्ञा प्रधान ऐसे चित्त से।
यहाँ विशेष यह है कि संसारी देव, ब्राह्मणों आदि की पूजा करने के लिए ग्रंथकार भ. ने लिखा है किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन शासन छोड़कर वहाँ चले जाओ, इस स्पष्टता के लिए ही 'आज्ञा प्रधान और यथायोग्य' ऐसे दो विशेषण ग्रंथकार भ. ने लगाए हैं। कहने का आशय है कि सभी को आदर की दृष्टि से देखना है, न किसी की निंदा या अपमान नहीं करना है किंतु प्रभु की आज्ञा को नहीं छोड़ना है।

पापवत्स्वपि चात्यन्तं स्वकर्मनिहतेष्वलम्
अनुकम्पैव सत्त्वेषु न्याय्या धर्मोऽयमुत्तमः ॥154॥

- स्वयं कर्मों से अत्यंत हत हुए पापी जीवों पर भी अत्यंत अनुकम्पा ही योग्य है। यही उत्तम धर्म है।

* जो जीव स्वयं के कर्मों से अत्यंत निहत हैं यानि दुःखी है, तथा संसार में लुब्ध होने से जो अत्यंत पापी जीव हैं, ऐसे जीवों पर भी अत्यन्त अनुकंपा

DATE ___/___/_____

करुणा, दया ही योग्य है, उन पर क्रोध, ईर्ष्या, रोष करना योग्य नहीं है।

* ऐसे सत्कृत्य ही उत्तम धर्म हैं। निश्चय से धर्म तो क्षायिक भाव के क्षान्ति आदि हैं किंतु यहाँ कारण में कार्य के उपचार से इन सत्कार्यों को धर्म कहा है क्योंकि ये इन कृत्यों से ही धर्म की प्राप्ति होती है।

चौथी दृष्टि का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

कृतमत्र प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधुना
तत्पुनः पञ्चमी तावद् योगदृष्टिर्महोदया ॥153॥

- इस प्रसंग से अब पर्याप्त है। अब प्रस्तुत के विषयानुरूप पाँचमी योगदृष्टि महोदय वाली दृष्टि का कथन करेंगे।

* चौथी दीप्रा दृष्टि के कथन में इस प्रसंग अब पर्याप्त है।
* इसलिए अब प्रस्तुत विषय संबंधी यहाँ पाँचवी स्थिरा नामक दृष्टि को प्रस्तुत करेंगे।
* यह दृष्टि कैसी है? उ. निर्वाण रूपी श्रेष्ठ फल वाली, महान् उदय वाली।

स्थिरा दृष्टि

इस चौथी दृष्टि विस्तार पूर्वक कहकर पाँचवी दृष्टि कहते हैं-

स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च
कृत्यमप्रभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥154॥

- स्थिरा दृष्टि में बोध नित्य और प्रत्याहार योगांग वाला है। कृत्य भ्रान्ति रहित, अतिचार रहित और सूक्ष्म बोध से युक्त है।

* स्थिरा दृष्टि में दर्शन, बोध नित्य होता है अर्थात् अप्रतिपाती होता है, वापस नीचे गिरने वाला नहीं होता। यह नित्य बोध निरतिचार दृष्टि में नहीं होता।
* सातिचार दृष्टि में बोध अनित्य भी होता है क्योंकि अतिचार-दोष त्याग हैं इसलिए बोध नीचे भी गिर जाता है।
* यहाँ निरतिचार और अतिचार सहित दृष्टि को उदाहरण से समझाते

DATE ___/___/___

हैं- दो पुरुषों को चक्षु के पर्दे का उपद्रव हुआ। वे दोनों वैद्य के अनुसार औषध लेते हैं, जिससे उनका रोग नष्ट होह जाता है। उन दोनों में से पहला पुरुष वैद्य को 'रोग पुनः न हो' उसके उपाय पूछ लेता है और उन उपाय के सेवन से उसे रोग पुनः नहीं होता है। यह पुरुष निरतिचार बोध वाला है।

दूसरा पुरुष वैद्य को उपाय नहीं पूछता है इसलिए उसे पुनः रोग की संभावना रहती है। यह पुरुष सातिचार बोध समान है।

निरतिचार दृष्टि वाला जीव दर्शन के उपायों का सतत सेवन करता है जिससे उसे अतिचार नहीं लगते और वह नीचे नहीं गिरता। किंतु सातिचार दृष्टि वाला जीव उन उपायों को जानता ही नहीं है अथवा जानता भी है तो बराबर सेवन नहीं करता। जब तक इसलिए उसे अतिचार लगते रहते हैं और वह प्रमाद में जाता है तब नीचे भी गिर जाता है।

★ यहाँ विशेष इतना है कि निरतिचार दृष्टि क्षायिक सम्यक्त्वी की अपेक्षा से है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी की अपेक्षा से सातिचार दृष्टि है।

★ इस दृष्टि में बोध रत्न की प्रभा समान होता है। क्षायिक सम्यक्त्वी का बोध स्पष्ट, घिसे तराशे हुए रत्न समान होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी का बोध स्थूलत्व आदि के उपद्रव वाली रत्न प्रभा समान है।

★ यह बोध प्रत्याहार वाला है। इस दृष्टि में प्रत्याहार नामक पंचम योगांग की प्राप्ति होती है। प्रत्याहार यानि त्याग। प्रत्याहार को समझाने के लिए ग्रंथकार भ. ने पातंजल यो.सू. 2-54 यहाँ रखा है - स्व विषय का असंप्रयोग करने पर स्वचित्त के स्वरूप को अनुसरने वाला इंद्रियों का प्रत्याहार है, अर्थात् इंद्रिय का स्व विषय के साथ संयोग न करें तथा स्वयं चित्त (यानि आत्मा) के स्वरूप में ही रमे, वह प्रत्याहार। भावार्थ यह है कि जैन सिद्धान्त में इंद्रिय जय के लिए दो उपाय बताएँ हैं (i) इंद्रियों का उसके विषयों के साथ संयोग ही न करे, जिससे आसक्ति न हो (ii) यदि संयोग हो तो भी उसमें आसक्ति न करे, आत्म स्वरूप

DATE ___/___/_____

में ही रमण करे। यही उपाय पातंजल सूत्र में भी कहे हैं, इस प्रकार का इंद्रिय जय इस दृष्टि में हो जाता है।

* इस दृष्टि में भ्रान्ति नामक दोष निवृत्त होता है, उसे समझाते हैं। यहाँ वन्दनादि कृत्य क्रम का आश्रय करके भ्रान्ति रहित होते हैं अर्थात् जो क्रम शास्त्रों में कहा है, उस क्रम से ही वे क्रियाएँ जीव करता है। यहाँ सभी क्रियाएँ भावपूर्वक होती है। इस कारण ही उन क्रियाओं में अतिचार नहीं होने से, वे पाप रहित, सावद्य रहित होती है।

* इस दृष्टि में सूक्ष्मबोध नामक गुण प्रगट होता है। यह बोध जिज्ञासा और श्रवण गुण से प्रगट होता है। ग्रंथि भेद हो जाने से इस दृष्टि में वेद्यसंवेद्य पद की प्राप्ति है। इस पद से सूक्ष्म बोध प्रगट होता है। सूक्ष्मबोध के लक्षण श्लोक 65 में कह चुके हैं। उस जीव की सभी क्रियाएँ सूक्ष्मबोध सहित होती है।

इस दृष्टि वाले जीवों का विवेक कैसा होता है, वे कैसे इंद्रिय जय रूप प्रत्याहार में तत्पर होते हैं- वह कहते हैं-

वात्यचूल्यां गृहक्रीडा तुल्याऽस्यां भाति धीमताम्
तमोग्रन्थिविभेदेन भवचेष्याखिलैव हि ॥155॥

-इस दृष्टि में तमो ग्रंथि के भेद से होने से सभी भव-चेष्टा बुद्धिमानों को बालक की धूल से गृह बनाने की क्रीड़ा समान लगती है।

* इस स्थिरा दृष्टि में तमोग्रंथि यानि राग-द्वेष की ग्रंथि का भेद होने से अर्थात् वेद्यसंवेद्य पद होने के कारण चक्रवर्ती आदि की चेष्टा भी अर्थात् रूप संसार की चेष्टा भी अर्थात् चक्रवर्ती के भोग आदि रूप संसार-चेष्टा भी बालक की रेती में गृह-घर बनाने की क्रीड़ा समान बुद्धिमान पुरुषों को लगती है। क्योंकि जैसे धूल में गृह बनाने की क्रीड़ा प्रकृति यानि स्वभाव से असुन्दर और अस्थिर है वैसे ही ये सांसारिक भोग भी स्वभावतः असुंदर हैं और अनित्य है।

DATE ___/___/___

मायामरीचिगन्धर्वनगरस्वप्नसन्निभान्
बाह्यान् पश्यति तत्त्वेन भावान् श्रुतविवेकतः ॥156॥

- इस दृष्टि वाला जीव श्रुत विवेक से बाह्य भावों को मृगतृष्णा, गंधर्व नगर और स्वप्न समान देखता है।

* माया मरीचि- मृगतृष्णा। वहाँ दूर-दूर तक पानी नहीं होता, किंतु माया-कपट मरीचि- किरणों से पानी दिखाई देता है।
* गंधर्व नगर- आकाश में इंद्रधनुष और बादलों से बनने वाले हरिश्चंद्र आदि नगर। लोक में ये नगर देवों के नगर कहे जाते हैं किंतु वस्तुतः वे बादलों की एक मायाजाल है।
* स्वप्न- लोक में प्रसिद्ध ही है। स्वप्न में जो भी दिखाई देता है वह मात्र आभास होता है।
* इस दृष्टि वाला जीव शरीर, घर आदि सभी बाह्य पदार्थों को परमार्थ से मृगतृष्णा, गंधर्व नगर और स्वप्न जैसा अनित्य देखता है।
* उस जीव में श्रुतके विवेक से अर्थात् सम्यक् प्रकार से परिणत श्रुतज्ञान से यह दृष्टि खुलती है।

अबाह्यं केवलं ज्योतिर्निराबाधमनामयम्
यदत्र तत्परं तत्त्वं शेषः पुनरुपप्लवः ॥157॥

- यहाँ जो अबाह्य, निराबाध और अनामय केवलज्ञान है, वही श्रेष्ठ तत्त्व है, शेष तो उपद्रव है।

* लोक में जो अबाह्य यानि आन्तर, अंतर से प्रगट होने वाला, निराबाध यानि अमूर्त्तता होने से पीड़ारहित अर्थात् अमूर्त होने से कोई उसे बाधा नहीं पहुँचा सकता तथा अनामय यानि रोग रहित ऐसा केवल ज्ञान है, वही लोक में श्रेष्ठ तत्त्व है क्योंकि वह हमेशा उस प्रकार ही रहता है अर्थात् प्रकट होने के बाद कभी जाता नहीं है।
* संसार में शेष जो भी पदार्थ है वे सभी उपद्रव रूप हैं क्योंकि उनका

DATE ___/___/_____

स्वरूप ही उस प्रकार का है अर्थात् वे उपद्रव रूपी स्वरूप वाले ही हैं।

एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरास्तथा
धर्मबाधापरित्यागयत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥158॥

- इस प्रकार इस दृष्टि के जीव विवेकी, धीर, प्रत्याहार में तत्पर और धर्म कार्य में बाधा आए ऐसे निमित्तों के त्याग में यत्न वाले होते हैं।

* श्लोक 155-157 में बताए गए विचार वाले इस दृष्टि के जीव विवेकी होते हैं, धीर यानि अचपल अर्थात् धीरज वाले होते हैं, प्रत्याहार में तत्पर यानि इंद्रियों के विषयों में आसक्ति नहीं करते और धर्म कार्य में बाधा हो ऐसे कार्यों का/परिणामों का त्याग करने में प्रयत्न वाले होते हैं।

* प्र. ये जीव धर्म में बाधा करने वाले परिणामों का त्याग करने में यत्न वाले क्यों होते हैं? उ. क्योंकि उनका अन्तःकरण, हृदय इस प्रकार का परिशुद्ध होता है।

* इन जीवों में इतना विवेक कैसे प्रगट होता है? उ. ये जीव ग्रंथि भेद होने से उत्तम श्रुत वाले होते हैं अर्थात् ग्रंथि भेद होने से इन्हें वेद्यसंवेद्य पद प्रगट होता है, वह पद प्रगट होने से सूक्ष्मबोध वाला श्रुत ज्ञान होता है जिससे इन जीवों की सोच ऐसी होती है। ये इस प्रकार तात्त्विक रीति से पदार्थ का विचार करते हैं।

ये जीव पदार्थ का ~~कैसा~~ चिंतन कैसे करते हैं, वह बताते हैं-

न ह्यत्यक्ष्मीसखी त्यक्ष्मीर्यथानन्दाय धीमताम्
तथा पापसखा त्वोके देहिनां भोगविस्तरः ॥159॥

- जैसे अत्यक्ष्मी की सखी ऐसी त्यक्ष्मी बुद्धिमानों के आनंद के लिए नहीं होती, वैसे लोक में पापों का मित्र ऐसा प्राणियों के भोग का विस्तार बुद्धिमानों के आनंद के लिए नहीं होता।

DATE ___/___/___

* अलक्ष्मी यानि दरिद्रता, दरिद्रता की सखी ऐसी लक्ष्मी बुद्धिमानों के आनंद के लिए नहीं होती अर्थात् उनके लिए आनंद कारी नहीं होती।
प्र. लक्ष्मी दरिद्रता की सखी, कैसे? उ. क्योंकि उस प्रकार दोनों का परिभोग होता है अर्थात् लक्ष्मी आती है तो वह अनित्य होने से दरिद्रता भी उसके साथ जुड़ी ही है इसलिए यहाँ लक्ष्मी को अनित्य होने से दरिद्रता की सखी कहा है।
* इसी प्रकार लोक में प्राणियों के भोगों का विस्तार बुद्धिमानों के लिए आनंदकारी नहीं होता। यहाँ भोगों के विस्तार को पापों का सखा यानि मित्र कहा है क्योंकि वह पापों के साथ अविनाभाव संबंध वाला है अर्थात् पापों के बिना की कभी भोग हो ही नहीं सकते।
प्र. पापों के बिना भोग कैसे नहीं हो सकते? उ. क्योंकि जीवों, भूतों की की हत्या किए बिना भोग कदापि संभव नहीं है और हिंसा से ही पाप होता है।

यहाँ कोई शंका करता है कि धर्म से पुण्यबंध होता है और पुण्योदय से भोगों की प्राप्ति होती है अतः वे धर्मभोग तो सुंदर ही है। इस शंका के निवारण के लिए कहते हैं-

धर्मादपि भवन् भोगो प्रायोऽनर्थाय देहिनाम्
चन्दनादपि सम्भूतो दहत्येव हुताशनः ॥160॥

- धर्म से उत्पन्न होने वाले भोग प्रायः प्राणियों के अनर्थ के लिए होते है। जैसे चंदन से भी उत्पन्न अग्नि जलाती ही है (शीतलता नहीं देती)
* धर्म से उत्पन्न हुए भोग भी (देवलोक आदि में) बहुलता से प्राणियों के अनर्थ के लिए ही होते हैं क्योंकि वे भी उस प्रकार का प्रमाद ही है।
* यहाँ प्रायः का ग्रहण शुद्ध धर्म के आक्षेपक ऐसे भोग के व्यवच्छेद के लिए किया है अर्थात् भोग यदि पुण्यानुबंधी पुण्य के उदय से प्राप्त हुए हैं

DATE ___/___/_____

तो वे शुभ अनुबंध वाले होने से सुंदर हैं जैसे - चक्रवर्ती भरत को भोग तो मिले किंतु वे शुभ अनुबंध वाले होने से सुंदर फल दायक बने किंतु यदि पापानुबंधी पुण्य के उदय से भोग मिले तो वे अशुभ अनुबंध वाले होने से असुंदर हैं जैसे - ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, सुभूम चक्रवर्ती।

~~प्र. शुद्ध धर्म के अक्षेपक भोग~~

प्र. शुभ अनुबंध वाले भोग शुभ शुद्ध धर्म के आक्षेपक क्यों होते हैं?

उ. क्योंकि वे प्रमाद के बीज रूप नहीं हैं अर्थात् वे भोग भोगने पर भी प्रमाद नहीं होता।

प्र. भोग भोगने में भी प्रमाद कैसे नहीं होता?

~~उ. अत्यंत अनवद्य तीर्थंकर आदि फल की शुद्धि वाले इस पुण्य होने से, वह प्रमाद का कारण नहीं बनता।~~

~~प्र. यह पुण्य~~ प्र. भोग भोगने पर भी प्रमाद कैसे नहीं होता?

उ. अत्यंत अनवद्य ऐसे तीर्थंकर आदि पद रूप फल की शुद्धि वाले इस पुण्य की सिद्धि ~~वाले~~ यानि प्राप्ति आदि (आदि से उदय का ग्रहण) में आगम के अभिनिवेश से धर्म है सार जिसका ऐसे धर्मसार चित्त की प्राप्ति होने से ये भोग प्रमाद नहीं हैं। [शुद्धेः षष्ठी विभक्ति को पुण्यसिद्धि पद में पुण्यस्य के साथ जोड़ना]

भावार्थ यह है कि शुद्ध धर्म के आक्षेपक ऐसे भोग तीव्र पुण्यानुबंधी पुण्य से प्राप्त होते हैं। उस पुण्य के उदय से ही तीर्थंकर आदि पद भी प्राप्त होते हैं। ऐसे शुभ फल वाला पुण्य बंधने पर (सिद्धि) या उदय में आने पर जीव को आगम में अभिनिवेश होता है। इस अभिनिवेश से जीव को धर्म रूपी सार वाला चित्त प्राप्त होता है। धर्मसार चित्त होने से जीव को भोग भोगने पर भी प्रमाद नहीं होता, उसका वैराग्य हमेशा जागृत रहता है।

* ~~इसी बात की~~ जो पहले कहा था धर्म-भोग प्रायः अनर्थकारी होते हैं, उस बात की पुष्टि के लिए दृष्टांत देते हैं- शीतल प्रकृति वाले चंदन से उत्पन्न

DATE __/__/____

ऐसी अग्नि भी तथास्वभाव से जलाती ही है अर्थात् चंदन शीत प्रकृति वाला है और ऐसे चंदन की लकड़ी से अग्नि उत्पन्न की जाए तो वह अग्नि भी उसके स्वभाव के कारण जलाती ही है। ऐसे ही धर्म कल्याण-कारी है किंतु उससे प्राप्त भोग भी स्वभाव से अनर्थकारी ही है।

★ चंदन से उत्पन्न कोई अग्नि कभी नहीं भी जलाए, जैसे यदि उसे सत्य मंत्र से अभिसंस्कार किया जाए अग्नि को दाह की सिद्धि नहीं होती वैसे ही धर्मभोग भी कभी कल्याणकारी भी होते हैं।

भोग भोगने से जो संताप शांत होता है, वह कैसा है, उसे कहते हैं-

भोगत्तदिच्छाविरतिः स्कन्धभारापनुत्तये
स्कन्धान्तरसमारोपस्तत्संस्कारविधानतः ॥16॥

- भोग से भोगेच्छा की विरति कंधे का भार दूर करने के लिए दूसरे कंधे पर आरोप करने समान है क्योंकि भोग के संस्कार का विधान है।

★ भोग से भोग की इच्छा विरति यानि भोगेच्छा की शांति तात्कालिकी होती है अर्थात् सिर्फ कुछ समय के लिए होती है, शाश्वत नहीं होती।

★ दृष्टांत से समझाते हैं- जैसे कोई व्यक्ति कंधे का भार उत्सुक उतारने के लिए यदि भार को दूसरे कंधे पर रखता है, तब उसे शांति मिलती है किंतु थोड़ी देर बाद फिर से दूसरा कंधा दुःखने लगता है, वैसे ही यह भोगेच्छा की विरति है।

★ ऐसा क्यों होता है? उ. क्योंकि भोग से भोग के ही संस्कार का विधान होता है अर्थात् उस प्रकार के कर्मबंधन द्वारा अनिष्ट भोग के संस्कार के विधान से तात्त्विक रीति से भोगेच्छा की निवृत्ति नहीं होती। यानि भोग से जो कर्म बंधते हैं, वे जब उदय में आते हैं तब फिर से भोगेच्छा प्रगट होती है।

यह दृष्टि होने पर अन्य आचार्यों द्वारा अलौल्यादि गुण कहे जाते हैं, वे वे कहते हैं-

DATE ___/___/_____

1. अलौल्य- लोलुपता, इंद्रिय विषयों की आसक्ति नहीं होना
2. आरोग्य- शारीरिक और मानसिक स्वस्थता, योग साधना से रोगों का नाश।
3. अनिष्ठुरत्व- निष्ठुरता, निर्दयता परिणाम का अभाव।
4. शुभ गंध- योग के प्रभाव से शरीर में से अच्छी गंध ही निकलती है।
5. अल्प मूत्रपुरीष- योग के प्रभाव से शरीर में यथायोग्य पाचन आदि क्रिया होने के कारण मूत्र-मल स्वभावतः अल्प होते हैं।
6. कांति- तेज की वृद्धि, शारीरिक चमक की वृद्धि।
7. प्रसाद- मानसिक प्रसन्नता।
8. स्वरसौम्यता- आवाज-स्वर सौम्य-मधुर-कर्णप्रिय होता है।

★ ये आठ गुण योग के प्रथम चिह्न हैं।

9. मैत्री आदि भावना से युक्त चित्त- योगियों का चित्त हमेशा मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ भावना से युक्त होता है, कभी ईर्ष्या-रोष-मत्सर आदि नहीं होते।
10. विषयों में अचित्त- चित्त विषय-भोगों की तरफ नहीं जाता।
11. प्रभाववद् चित्त- चित्त प्रभाववाला होता है, मानसिक शक्ति बढ़ती है।
12. धैर्यसमन्वित चित्त- चित्त धैर्य-धीरज होता है, जल्दबाजी या आकुलता-आकुलता रहित होता है।
13. द्वन्द्वों से अधृष्यत्व- द्वन्द्व यानि दुविधा वाली परिस्थिति अथवा प्रतिकूलता से भी समभाव।
14. अभीष्टलाभ- इष्ट फलों लाभ की प्राप्ति
15. उत्कृष्टजनप्रियता- उत्तम आचार-विचारों से अत्यन्त लोकप्रियता।
16. दोष का अपायः- असंग भाव होने से रागद्वेष, हास्य, जुगुप्सा आदि दोषों का विशेष नाश
17. परम तृप्ति- आत्मरस जागने से परम तृप्ति होती है।
18. औचित्य योग- सभी जगह, सभी जीवों के साथ औचित्य के साथ वर्तन करना।
19. गुर्वी समता- अतिशय- अत्यंत समता इस जीव में होती है।
20. वैरादि का नाश- वैर, वैमनस्य, आदि का नाश
21. ऋतम्भरा बुद्धि- विवेक युक्त बुद्धि।

DATE ___/___/___

* ये गुण निष्पन्न योगी के हैं। किंतु ये गुण इस पाँचवी दृष्टि से ही अकृत्रिम यानि सहज प्रगट हो जाते हैं।

कान्ता दृष्टि

स्थिरा दृष्टि कही गई। अब छट्ठी कांता दृष्टि को कहते हैं-

कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसास्ति हितोदया ॥162॥

- कांता दृष्टि में श्लोक 154 में कहे गए नित्यदर्शनादि भाव अन्य जीवों की प्रीति के लिए होते हैं, धारणा नामक योगांग होता है। धारणा से ही यहाँ अन्यत्र हर्ष नहीं होता (अन्यमुद्)। हितोदय वाली मीमांसा यहाँ होती है।

* इस कांता दृष्टि में भी जीव को पूर्ववत् निज नित्य दर्शन आदि भाव होते हैं। ये भाव यहाँ अन्य जीवों की प्रीति के लिए होते है, द्वेष का कारण नहीं बनते।

* इस दृष्टि में धारणा नामक योगांग प्रगट होता है। धारणा यानि मन को एक देश में, एक ही वस्तु में बांधना, स्थिर करना। ये धारणा इस दृष्टि में श्रेष्ठ, प्रधान होती है।

* इस दृष्टि में अन्यमुद् नामक दोष निवृत्त होता है। अन्यमुद् यानि अन्य दूसरी जगह, जो क्रिया चलती हो उसे छोड़कर अन्य जगह, क्रिया में हर्ष प्राप्त होना। धारणा नामक योगांग से इस दृष्टि में यह दोष निवृत्त होता है क्योंकि धारणा से मन एक ही क्रिया में स्थिर होता है इसलिए उस काल में (तदा) उस-उस प्रतिभास का अयोग है अर्थात् उन अन्य क्रियाओं में मन जाता ही नहीं है, उनका प्रतिभास यानि स्मरण ही नहीं होता।

* इस दृष्टि में मीमांसा नामक गुण प्रगट होता है। मीमांसा यानि चिंतन-मनन। यह मीमांसा यहाँ सद् विचारात्मक ही होती है। श्रवण और सूक्ष्मबोध से

DATE ___/___/_____

जो ज्ञान प्रगट हुआ है उस ज्ञान की ही मीमांसा यहाँ हमेशा, सदाकाल होती है। यह मीमांसा सद् विचारात्मक होने के कारण ही हित के उदय वाली है क्योंकि इससे सम्यग् ज्ञान रूप फल प्राप्त होता है।

इस दृष्टि में दर्शनादि भाव अन्य की प्रीति के लिए होते हैं। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात्समाचारविशुद्धितः
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥163॥

-इस दृष्टि में धर्म के माहात्म्य से आचार विशुद्धि के कारण योगी जीवों को प्रिय होता है और धर्म में एकाग्र मन वाला होता है।

★ इस कांता दृष्टि में रहा योगी नियोग यानि नियम से, अवश्य धर्म की महत्ता रूप कारण से और सम्यग् आचार की विशुद्धि रूप हेतु से संपर्क में आने वाले सभी जीवों का प्रिय बनता है तथा धर्म में ही एकाग्र मन वाला होता है।

इस जीव के मन की एकाग्रता और आचार विशुद्धि को कहते हैं-

श्रुतधर्मे मनो नित्यं कायस्त्वस्यान्यचेष्टिते
अतस्त्वाक्षेपकज्ञानान्न भोगा भवहेतवः ॥164॥

-इस जीव का मन हमेशा श्रुत धर्म में होता है, मात्र काया ही अन्य चेष्टा में होती है। इस आक्षेपक ज्ञान के होने से ही भोग भव के हेतु नहीं बनते।

★ इस दृष्टि वाले जीव का मन हमेशा श्रुत धर्म यानि आगम में होता है क्योंकि श्रुत की भावना की उपपत्ति है अर्थात् वह भले ही हर समय ज्ञान की आराधना न करता हो किंतु उसके मन में हमेशा ज्ञान की चिंतन-मनन-भावना ही चलती है।

★ इस जीव का मन हमेशा ज्ञान में रहता है मात्र काया ही अन्य

DATE __/__/____

चेष्टाओं में यानि सांसारिक क्रियाओं में रहती है।

* इस कारण से ही आक्षेपक ज्ञान होने के कारण अर्थात् मन को हमेशा ज्ञान में ही जोड़कर रख सके ऐसा सम्यग् ज्ञान होने से भोग यानि इंद्रिय के विषय के संबंध भव यानि संसार के हेतु नहीं बनते।

इसी अर्थ को दो श्लोक द्वारा दृष्टांत से समझाते हैं-

मायाम्भस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम्
तन्मध्येन प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जितः॥165॥

- मृगतृष्णा के माया जल को तत्त्व से देखता हुआ पुरुष उस पानी से अनुद्विग्न जल्दी से उस पानी के मध्य से व्याघात बिना निकल ही जाता है।

* जैसे (यह उदाहरण के उपन्यास के लिए है) कोई मृगतृष्णा के माया जल को माया जलत्व से ही देखता हुआ अर्थात् 'यह माया जल है' इस प्रकार देखता हुआ उसे पानी से उद्विग्न हुए बिना, उस पानी के बीच में से जल्दी से व्याघात रहित यानि बाधा रहित निकल ही जाता है क्योंकि तत्त्व से माया जल व्याघात में समर्थ नहीं है।

* भावार्थ यह है कि कोई पुरुष माया जल में से बाधा बिना जल्दी निकल जाता है, (वैसे श्लोक 166 से संबंध है)

भोगान्स्वरूपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान्
भुञ्जानोऽपि ह्यसङ्गः सन् प्रयात्येव परं पदम् ॥166॥

- वैसे ही भोगों को स्वरूप से माया जल की उपमा वाला देखता हुआ इस दृष्टि का जीव भोग भोगता है फिर भी असंग रह कर परम पद को जाता ही है।

* जैसे कोई माया जल में से निकलता है वैसे इस दृष्टि वाला जीव इंद्रियों के विषय संबंधी भोगों को स्वरूप से अर्थात् आरोप किए बिना स्वरूप से ही श्लोक 165 में कहे अनुसार माया जल की उपमा वाले अर्थात् असार देखता हुआ, कर्म से आक्षिप्त भोगों को भोगता हुआ भी, भोगों से असंग

DATE ___/___/_____

रहता हुआ परम पद यानि मोक्ष में जाता ही है। क्योंकि उस प्रकार के अनभिष्वङ्ग पन से परवशता का अभाव है अर्थात् वह रागादि से उन भोगों के परवश नहीं होता है।

इसी कथन को व्यतिरेक दृष्टांत से दो श्लोकों द्वारा सिद्ध करते हैं-

भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलङ्घनम्
मायोदकदृढावेशस्तेन यातीह कः पथा ॥167॥

-भोग को तत्त्व रूप मानने वाले का भवसमुद्र उल्लंघन नहीं होता जैसे माया जल को 'यह पानी है' इस प्रकार दृढ़ निर्णय वाला कौन उस मार्ग से जाएगा ?

★ जो व्यक्ति भोगों को ही तत्त्व या परमार्थ मानता है, उस व्यक्ति का कभी भी संसार समुद्र से उल्लंघन नहीं होता क्योंकि उस प्रकार की बुद्धि से मोक्ष के उपाय में प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् उसे यह पता ही नहीं चलता कि भोग को छोड़कर अन्य कुछ तत्त्व है इसलिए वह सिर्फ भोग में ही प्रवृत्ति करता है, भोगों को तत्त्व मानने वाली बुद्धि से होने से भोग छोड़कर योग के उपाय में प्रवृत्ति नहीं करता।

★ यहाँ दृष्टांत देते हैं- यदि कोई उस प्रकार के विपर्यास से माया जल को असली पानी मानकर उसमें दृढ़ आवेश वाला हो अर्थात् दृढ़ निर्णय वाला हो, तो ऐसे दृढ़ निर्णय वाला कौन व्यक्ति उस रास्ते से निकलेगा अर्थात् कोई नहीं निकलेगा। इसी प्रकार भोग में तत्त्वबुद्धि वाला जीव भी संसार को लांघ नहीं सकता।

स तत्रैव भयोद्विग्नो यथा तिष्ठत्यसंशयम्
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा भोगजम्बालमोहितः ॥168॥

- जैसे माया जल में दृढ़ निर्णय वाला वह, डूबने के भय से उद्विग्न, वहीं मार्ग में अवश्य रुक जाता है, वैसे ही भोग रूपी कीचड़ में मोहित जीव मोक्ष मार्ग

DATE ___/___/___

में अटक जाता है।

★ जैसे माया जल में 'यह जल है' ऐसे दृढ़ निर्णय वाला वह व्यक्ति भय से उद्विग्न होता हुआ उस मार्ग में रुक ही जाता है, वैसे ही ज्ञानादि के लक्षण वाले मोक्ष मार्ग में भोग के कारण ऐसे शरीर आदि प्रपंचों में मोहित जीव अटक ही जाता है।

★ यहाँ विशेष इतना है कि श्लोक 165-166 में अन्वय से यह सिद्ध किया था कि भोगों को माया जल समान देखता जीव भोगता हुआ भी मोक्ष में जाता है।

श्लोक 167-168 में व्यतिरेक से सिद्ध किया कि भोग में आसक्ति वाला जीव मोक्ष में जाता है।

अब मीमांसा गुण को कहते हैं-

मीमांसाभावतो नित्यं न मोहोऽस्यां यतो भवेत्
अतस्तत्त्वसमावेशात् सदैव हि हितोदयः ॥169॥

- मीमांसा का नित्य होने से इस दृष्टि में मोह नहीं होता इसलिए तत्त्व के समावेश से हमेशा ही हितोदय है।

★ इस दृष्टि में हमेशा सद् विचार रूप मीमांसा होने से मोह नहीं होता। मोह नहीं होने के कारण इस दृष्टि में तत्त्व का समावेश होने से हमेशा ही हित का उदय होता है।

कान्ता दृष्टि का विकासक्रम

★ यह दृष्टि वाला जीव अन्य को प्रिय होता है।

★ मन हमेशा ज्ञान, चिंतन में, मात्र काया ही बाह्य चेष्टा करती है।

★ भोगों को परमार्थ से माया जल समान जीव देखता है।

★ मीमांसा से मोह नहीं होता।

DATE __/__/____

प्रभा दृष्टि

छट्ठी दृष्टि प्रतिपादन की गई। अब सातवीं प्रभा दृष्टि कहते हैं-

ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रुगत एव हि
तत्त्वप्रतिपत्तियुता सत्प्रवृत्तिपदावहा ॥170॥

- प्रभा दृष्टि प्रायः ध्यानप्रिय होती है। इस दृष्टि में रोग दोष नहीं होता। मीमांसा से ही तत्त्व की प्रतिपत्ति युक्त और सत्पद को लाने वाली यह दृष्टि है।

★ यह प्रभा दृष्टि में ध्यान नामक योगांग की प्राप्ति होती है। इसलिए इस दृष्टि को ध्यान प्रिया कहा है अर्थात् ध्यान है प्रिया, वल्लभा जिसकी, ऐसी ध्यान प्रिया यह दृष्टि है। क्योंकि यहाँ ध्यान में विक्षेप का उद्वेग है अर्थात् विक्षेप उन्हें प्रिय नहीं है, विक्षेप से उद्वेग होता है।

★ इस दृष्टि में रुग् यानि रोग, वेदना नहीं होती। योग की प्रवृत्ति से, योग के प्रभाव शरीर निरोग बनता है और भाव से मोह आदि दोष नहीं होने से आत्मा भी निरोग बनती है।

★ इस दृष्टि में प्रतिपत्ति गुण प्रगट होता है। पूर्व दृष्टि के मीमांसा गुण से ही यहाँ तत्त्व का निर्णय होता है और तत्त्व की प्रतिपत्ति भी होती है।

★ तत्त्व प्रतिपत्ति से ही यह दृष्टि विशेष से समता से युक्त है अथवा विशेष से सत्प्रवृत्ति के पद को लाने वाली है।

यहाँ रुग् दोष नहीं होने से और ध्यान से कैसा सुख उत्पन्न होता है, वह कहते हैं-

ध्यानजं सुखमस्यां तु जितमन्मथसाधनम्
विवेकबलनिर्जितं शमसारं सदैव हि ॥171॥

- इस दृष्टि में ध्यान से उत्पन्न, जित जीत लिए हैं विषय जिसने ऐसा, विवेक के बल से उत्पन्न, शमप्रधान ऐसा सुख हमेशा होता है।

★ इस दृष्टि में ध्यान से उत्पन्न ऐसा सुख हमेशा होता है, वह सुख

DATE __/__/____

और कैसा विशिष्ट होता, वह कहते हैं-

i) जितमन्मथसाधन- जिन जीत लिए काम के साधन जिसने, दूर कर दिए हैं शब्दादि विषय जिसने ऐसा सुख अर्थात् वह सुख वैषयिक या ~~पौद्~~ पौद्गलिक नहीं है।

ii) विवेकबल्य निर्जात- विवेक के बल से उत्पन्न, ज्ञान के सामर्थ्य से उत्पन्न।

iii) शमसार- शम, समता सार है जिसका, समता प्रधान है जिसमें ऐसा सुख। क्योंकि विवेक। ज्ञान का फल समता है।

वास्तविक सुख-दुःख के लक्षण कहते हैं-

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥172॥

- पर के वश सब दुःख है, आत्मवश सब सुख है। यह संक्षेप से सुख-दुःख के लक्षण कहे गए।

★ जो भी पर वस्तु के आधीन है, वह सब दुःख है क्योंकि उसमें दुःख के लक्षण का योग है।

★ जो भी आत्मा के आधीन है, वह सब सुख है क्योंकि उसमें भी सुख के लक्षण का योग है।

★ इस प्रकार भगवान् द्वारा सुख-दुःख का लक्षण संक्षेप से कहा गया।

पुण्यापेक्षमपि ह्येवं सुखं परवशं स्थितम्
ततश्च दुःखमेवैतत्तल्लक्षणनियोगतः ॥173॥

- पुण्य की अपेक्षा वाला सुख भी इस प्रकार कर्मों के परवश है इसलिए दुःख के लक्षण का नियोग होने से यह भी दुःख ही है।

★ यदि कोई शंका करे कि जो भी परवश है, वह दुःख है तो पुण्योदय में तो पर वस्तु से ही सुख होता है इसलिए यह कथन सत्य नहीं है?

DATE ___/___/_____

इस शंका का उत्तर देते हैं कि पुण्योदय के काल में जो सुख होता है, वह भी पुण्य की अपेक्षा वाला होने से परवश ही है क्योंकि पुण्य भी पर वस्तु ही है, वह आत्मा के आधीन है।

* इस प्रकार उक्त नीति से ही उस सुख में दुःख के लक्षण का नियोग होने से वह पुण्योदय वाला सुख भी दुःख ही है।
* इस कारण से इस दृष्टि में ध्यान से उत्पन्न होने वाला सुख ही तात्विक सुख है क्योंकि यह सुख परवश नहीं है।
* यह सुख परवश क्यों नहीं है? उ. क्योंकि यह सुख ~~कर्म~~ सिर्फ कर्म के वियोग से ही उत्पन्न होता इसलिए इस सुख को अन्य ~~को~~ कोई वस्तु की अपेक्षा नहीं है।

ध्यान योगांग को कहते हैं-

ध्यानं च निर्मले बोधे सदैव हि महात्मनाम्
क्षीणप्रायमलं हेम सदा कल्याणमेव हि ॥७३॥

- बोध निर्मल होने पर महात्माओं को सदा ध्यान ही होता है। जैसे सुवर्ण क्षीण प्राय मल वाला होने पर हमेशा कल्याण ही होता है।
* इस दृष्टि में स्पष्ट क्षयोपशम होने पर उत्पन्न होने वाले निर्मल बोध होने पर मुनियों को सदा ही ध्यान होता है।
* इसी बात को सदृश वस्तु की उपमा से कहते हैं कि जैसे सुवर्ण क्षीण प्राय मल वाला होने पर अर्थात् संपूर्णतया लगभग साफ होने पर उस प्रकार की अवस्था की प्राप्ति से यानि चमकदार अवस्था की प्राप्ति से सदा ही कल्याण वाला होता यानि चमक वाला होता, फिर कभी वह मल वाला नहीं होता। वैसे ही यहाँ कर्म अल्प होने से ध्यान होता है।

श्लोक ७० में इस दृष्टि को सत्प्रवृत्तिपदावह कहा था, उसे स्पष्ट करते हैं-

DATE __/__/__

सत्प्रवृत्तिपदं चेहाऽसङ्गानुष्ठानसंज्ञितम्
महापथप्रयाणं यदनागामिपदावहम् ॥175॥

- यहाँ असंग अनुष्ठान नामक अनुष्ठान सत्प्रवृत्तिपद है। वह अनुष्ठान महापथ के प्रयाण स्वरूप और अनागामि पद को वहन करने वाला है।

जीव के अनुष्ठान चार प्रकार से-

i) प्रीति अनुष्ठान - प्रभु और उनके वचन के प्रति प्रीति से, आकर्षण से प्रवृत्ति करना।
ii) भक्ति अनुष्ठान - प्रभु के प्रति भक्ति से प्रवृत्त होना। इस अनुष्ठान में बहुमान भाव और विशुद्धि अधिक होती है।
iii) वचनानुष्ठान - प्रवृत्ति बराबर शास्त्र वचनानुसार करना।
iv) असंगानुष्ठान - यहाँ अनुभूति होने से और वचोऽनुष्ठान को अतिशय अभ्यास से सहज प्रवृत्ति।

इस दृष्टि में जीव को असंगानुष्ठान होता है।

* यहाँ तत्त्व मार्ग में असंगानुष्ठान नामक सत्प्रवृत्ति पद यानि सत्प्रवृत्ति का स्थान होता है क्योंकि यहाँ उस प्रकार की स्वरस प्रवृत्ति होती है अर्थात् उस प्रकार की सहज, स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।
* यह असंगानुष्ठान महापथ यानि मोक्ष मार्ग पर प्रयाण, चलने समान है और अनागामी पद (जहाँ वापस नहीं आना पड़े) को लाने वाला है अर्थात् नित्य शाश्वत पद को प्राप्त कराने वाला है।

अन्य दर्शनकार भी इस असंगानुष्ठान को भिन्न-भिन्न नामों से स्वीकारते हैं, वे नाम यहाँ कहते हैं-

प्रशान्तवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः ॥176॥

- असंगानुष्ठान प्रशांतवाहिता, विसभाग परिक्षय, शिव मार्ग, ध्रुव मार्ग इस प्रकार योगियों द्वारा कहा जाता है।

DATE ___/___/_____

★ सांख्य दर्शन वाले उसे प्रशांतवाहिता कहते हैं- प्रशांत वाहिता यानि अत्यंत उपशम भाव का प्रवाह।

★ विसभाग परिक्षय- बौद्ध दर्शनकार। बाह्य वस्तु के संग से चित्त का जो प्रवाह विसदृश होता है, वह विसभाग और ऐसे विसभाग का संपूर्णतया क्षय, विसभागपरिक्षय।

★ शिवधर्म- शैव अनुयायी। शिव यानि उपद्रव रहित अवस्था अर्थात् मोक्ष, ऐसे शिव का मार्ग वह शिवधर्म।

★ ध्रुवाध्वा- ~~सत्प्रवृत्ती~~ महाव्रतिक मतानुयायी। ध्रुव यानि कर्म रहित अवस्था, ऐसी अवस्था का मार्ग वह ध्रुवाध्वा।

एतत्प्रसाधयत्याशु यद् योग्यस्यां व्यवस्थितः
एतत्पदावहैषैव तत्तत्रैतद्विदां मता ॥७७॥

- इस दृष्टि में स्थित योगी जल्दी से इस अनुष्ठान को साध लेता है इसलिए इस सत्प्रवृत्ति पद को वहन करने वाली यही दृष्टि विद्वानों का मान्य है

★ इस दृष्टि में रहा योगी इस असंगानुष्ठान को शीघ्र ही साध लेता है।

★ इस कारण सत्प्रवृत्ति के पद को पाने वाली यही दृष्टि विद्वानों को मान्य है।

★ 'एतद् विदां' में 'एतद्' से असंगानुष्ठान, यह दृष्टि या योग तीनों ले सकते हैं।

प्रभा दृष्टि का विकासक्रम

★ ज्ञ नित्य ध्यान और ध्यान से उत्पन्न सुख।

★ असंगानुष्ठान।

परा दृष्टि

सातवी दृष्टि कही गई। अब आठवी परा दृष्टि कहते हैं-

DATE ___/___/___

समाधिनिष्ठा तु परा तदासङ्गविवर्जिता
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ॥178॥

- परा दृष्टि समाधि नामक योगांग से युक्त, आसंग दोष रहित, आत्मसात् की हुई है प्रवृत्ति जिसमें ऐसी और उत्तीर्ण आशय वाली होती है।

* इस आठवीं परा दृष्टि में समाधि नाम का योगांग होता है। यह समाधि एक प्रकार का ध्यान विशेष है। यहाँ अल्प भी राग-द्वेष नहीं होते। अन्य आचार्य भ. ऐसा भी कहते हैं कि समाधि ध्यान नहीं है किंतु ध्यान का फल है। इस बात की पुष्टि के लिए पातंजल्य योगसूत्र का पाठ देते हैं- चित्त का एक देश में बँधना वह धारणा। उसमें ज्ञान की (प्रत्यय) एकतानता, वह ध्यान। यही ध्यान जब अर्थमात्र का निर्भास करता है यानि यह ध्यान जब मात्र ध्येय के स्वरूप रूप बन जाता है तब स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है अर्थात् ध्याता-ध्येय-ध्यान एक स्वरूप बनते हैं, तभी वह समाधि होती है।

* इस दृष्टि में आसंग दोष का त्याग होता है। आसंग यानि भ. आसक्ति। यहाँ जीव को पहले से ही बाह्य पदार्थों की आसक्ति नहीं होती इसलिए इस दृष्टि जीव समाध्यास यानि समाधि आदि प्रशस्त भावों की भी आसक्ति छोड़ देता है।

* इस दृष्टि में भूत प्रवृत्ति या आत्मीकृत प्रवृत्ति नामक गुण प्रगट होता है। भूत प्रवृत्ति यानि सहज प्रवृत्ति। इस दृष्टि के जीव को प्रवृत्ति करने के लिए सोचना-विचारना या इच्छा भी नहीं पड़ता। उन्हें ज्ञान में सब कुछ स्पष्ट होता है, ज्ञानानुसार उनकी सहज प्रवृत्ति हो जाती है।

यहाँ दृष्टान्त देते हैं- चंदन गंध न्याय। चंदन में गंध एकदम एकमेक भ. होकर रहती है। चंदन के किसी भी टुकड़े को लो, उसमें सुगंध होती ही है। गंध फैलाने के लिए चंदन कोई प्रयास नहीं करता, वह जहाँ होता है, भ. उसकी सुगंध भी सहज फैलती रहती है। ऐसे ही यहाँ प्रवृत्ति होती है।

* ऐसी सहज प्रवृत्ति के कारण ही इस दृष्टि के उत्तीर्ण आशय वाली दृष्टि

DATE ___/___/_____

कहा गया है। उत्तीर्ण आशय यानि असत् चित्त के अभाव से जहाँ कोई आशय-इच्छा बाकी न हो, जिसमें सभी आशय पूर्ण हो गए हों वह उत्तीर्ण आशय। यहाँ असत् चित्त का अर्थ इच्छा वाला चित्त लेना है। केवली भगवंतों का मन इच्छा रहित होता है।

निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविवर्जितः
आरूढारोहणाभावगतिवत्त्वस्य चेष्टितम् ॥१७॥

- इस दृष्टि में योगी निराचार पद वाला, अतिचार रहित होता है। इस योगी की चेष्टा चढ़े हुए को चढ़ने के अभाव की गति जैसी होती है।

* इस दृष्टि में योगी निराचार पद वाला होता है अर्थात् वह ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि पंचाचार का पालन नहीं करता क्योंकि उन्हें प्रतिक्रमणा का अभाव होता है (यह प्रतिक्रमणादि का अभाव यहाँ कारण नहीं है किंतु वह साध्य का हेतु है।) अर्थात् वे योगी प्रतिक्रमणादि क्रिया नहीं करते, इससे यह सिद्ध होता है कि वे आचार रहित हैं। यदि वे पंचाचार का पालन करते, तो प्रतिक्रमण भी करते।
वे पंचाचार का पालन इसलिए नहीं करते क्योंकि उन्हें सभी आचारों का लक्ष्य प्राप्त हो चुका है।

* ये योगी अतिचार से भी रहित होते हैं क्योंकि उन्हें अतिचार के कारणों का अभाव है।

* इस कथन को दृष्टांत से ~~बसत~~ कहते हैं- जैसे ऊपर चढ़े हुए को आरोहण के अभाव वाली सहज गति होती है अर्थात् कोई व्यक्ति पर्वत पर चढ़ गया हो फिर पर्वत पर उसकी गति सहज बन जाती है, वैसे ही यहाँ चेष्टाएँ सहज बन जाती है।

* वे यह पद निराचार क्यों होता है, वह कहते हैं; क्योंकि यहाँ आचारों से जीतने योग्य कर्मों का अभाव होता है अर्थात् आचार पालन से जो कर्म जीते जाते हैं, उन कर्मों का यहाँ अभाव है इसलिए वे आचार पालन नहीं

DATE __/__/__

करते।

यदि उन्हें आचार नहीं होते, तो भिक्षाटन आदि आचार इन योगी को कैसे होते हैं, इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं-

रत्नादिशिक्षादृग्भ्योऽन्या यथा दृक्तन्नियोजने
तथाचारक्रियाऽप्यस्य सैवान्या फलभेदतः ॥180॥

- जैसे रत्नादि की शिक्षा ग्रहण करने वाले से शिक्षित की दृष्टि उसके व्यापार में अलग होती है वैसे ही इस योगी की आचार क्रिया भी फल के भेद से अन्य यानि अलग ही है।

* कोई व्यक्ति रत्नादि के व्यापार की शिक्षा ले रहा है। इस व्यक्ति की व्यापार में जैसी दृष्टि है, इस दृष्टि से भिन्न ही उस व्यापार में शिक्षित-अनुभवी व्यक्ति की दृष्टि होती है।

* वैसे ही इस योगी की आचार क्रिया भी पूर्व दृष्टियों के आचार से भिन्न होती है। प्र. कैसे भिन्न होती है? उ. फल के भेद से भिन्न होती है अर्थात् पूर्व की क्रिया का फल और इस आचार क्रिया के फल में भेद है। पूर्व की क्रिया का फल सांपरायिक कर्मों का क्षय यानि कषायिक कर्मों का क्षय होता है किंतु इस दृष्टि में क्रिया का फल भवोपग्राही कर्मों का क्षय होता है यानि आत्मा को देह के साथ बांधने वाले अघाति कर्मों का क्षय होता है।

जैसे रत्नादि के व्यापार से संपत्ति प्राप्त होती है, वैसे यहाँ आत्म संपत्ति किस प्रकार प्राप्त होती है, वह कहते हैं-

तन्नियोगान्महात्मेह कृतकृत्यो यथा भवेत्
तथाऽयं धर्मसन्न्यासविनियोगान्महामुनिः ॥181॥

- जैसे लोक में रत्न के व्यापार से व्यापारी कृतकृत्य होता है वैसे यह योगी धर्म संन्यास रूप विनियोग से कृतकृत्य होता है।

DATE __/__/____

* जैसे कोई रत्न का व्यापारी रत्न के व्यापार से लोक में कृतकृत्य, धनाढ्य होता है वैसे यह योगी महामुनि धर्मसंन्यास रूप व्यापार से कृतकृत्य होते हैं।
* धर्मसंन्यास यानि (श्लोक 9) क्षायोपशमिक धर्म का त्याग और क्षायिक धर्मों का स्वीकार।

कृतकृत्य होने में क्या होता है, वह कहते हैं-

द्वितीयाऽपूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्ना सदोदया ॥184॥

- द्वितीय अपूर्वकरण में मुख्य ऐसा यह धर्मसंन्यास होता है। इससे योगी को निःसपत्ना और सदा उदय वाली केवल लक्ष्मी प्रगट होती है।

* श्रेणि में रहे ऐसे दूसरे अपूर्वकरण में मुख्य यानि अनुपचरित धर्मसंन्यास होता है जिसमें क्षायोपशमिक धर्मों का त्याग होता है। उपचरित धर्मसंन्यास तो प्रमत्तसंयत से लेकर श्रेणि तक होता है जिसमें क्षायोपशमिक धर्म का स्वीकार होता है।
* इस धर्मसंन्यास रूप व्यापार से इस योगी को केवल लक्ष्मी यानि केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होता है। यह केवल लक्ष्मी कैसी है, वह कहते हैं-

(i) निःसपत्ना - जिसकी सपत्नी यानि सौतेली पत्नी नहीं है अर्थात् जिसका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है, जिसकी तुलना कोई नहीं कर सके ऐसी है।
(ii) सदोदया- हमेशा उदय वाली, क्योंकि इसके प्रतिपात का अभाव है।

सिंहावलोकन की नीति से इस बात की पुष्टि करते हैं- [जैसे सिंह चलते समय थोड़ा आगे चलता है फिर मुड़ कर पीछे देखता है, फिर थोड़ा चलता है, और पीछे देखता है, इस नीति को सिंहावलोकन कहते हैं। वैसे ही पूर्वापर वस्तु के अनुसंधान के लिए यहाँ यह श्लोक कहते हैं-]

DATE ___/___/___

स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया
चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत् ॥183॥

- भावशुद्ध ऐसी प्रकृति से चंद्र जैसा जीव रहा है, विज्ञान चंद्रिका जैसा है और उसका आवरण बादल जैसा है।
* इस दृष्टि में जीव का बोध चंद्र प्रभा जैसा होता है।
* जीव यहाँ कर्म रहित होने के कारण तत्त्व से शुद्ध ऐसी प्रकृति यानि स्वयं के सहज स्वभाव से चंद्र जैसा रहता है, उसे प्रयत्न से स्थापन नहीं करना पड़ता, सहज ही रहता है।
* उसका ज्ञान (केवलज्ञानादि) चंद्र की चाँदनी जैसे है। यह सिर्फ उपमा मात्र है, यहाँ चंद्र जैसी हानि-वृद्धि आदि नहीं होती, सिर्फ उसे चंद्र की उज्जवलता के साथ समझाया है।
* उन ज्ञान का आवरण कर्म बादल के परत्व समान है।

इस दृष्टांत को प्रस्तुत विषय से जोड़ते हैं:

घातिकर्मघ्निकल्पं तदुक्तयोगाऽनित्याऽऽहतेः
यदाऽपैति तदा श्रीमान् जायते ज्ञानकेवली ॥184॥

- घातिकर्म बादल समान है। पूर्व में कहे गए धर्मसंन्यास रूप योग रूप हवा के झपाटे से जब ये कर्म दूर होते हैं, तब यह योगी केवली होता है।
* जो कर्म जीव के गुणों का घात करते हैं, वे घाति कर्म। घाति कर्म चार होते हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय।
* ये कर्म जीव के गुणों पर बादल समान होते हैं।
* ये घाति कर्म पूर्व कथित धर्म संन्यास रूप हवा के घात से श्रेणि की समाप्ति में खत्म होते हैं।
* श्रेणि की समाप्ति में ये कर्म जैसे ही खत्म होते हैं वैसे ही यह योगी मुख्य ऐसे धर्म संन्यास रूप पराक्रम के योग से ज्ञान केवली यानि सर्वज्ञ होता है।

DATE __/__/____

सर्वज्ञ होने के बाद क्या होता है, वह कहते हैं-

क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः सर्वलब्धिफलान्वितः
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ॥85॥

- अब क्षीण दोष वाले, सर्वज्ञ, सर्वलब्धि रूप फल से युक्त श्रेष्ठ परार्थ का संपादन कर योगान्त को प्राप्त करते हैं।

★ क्षीणदोष- सकल रागादि दोषों के परिक्षय से क्षीणदोष।
★ सर्वज्ञ- आवरण रहित ज्ञान होने से
★ सर्वलब्धिफलान्वितः- इन योगी के सभी कृत्य पूर्ण हो चुके हैं इसलिए किसी भ चीज को प्राप्त करने की उत्सुकता इन्हें नहीं होती। इस प्रकार सर्व प्रकार की उत्सुकता की निवृत्ति होने से ये योगी सर्व लब्धि रूप फल से युक्त होते हैं। (यहाँ उत्सुकता की निवृत्ति हेतु है।)
★ ये योगी भव्यता अनुसार सम्यक्त्वादि लक्षण वाले श्रेष्ठ परोपकार करके उसके बाद योग के अंत को प्राप्त करते हैं।

योगनिरोध से क्या होता है, वह कहते हैं-

तत्र द्वाग्वै भगवानयोगाद् योगसत्तमात्
भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम् ॥86॥

- उस अवस्था में ये भगवान् योगों में प्रधान ऐसे अयोग से संसार रूप व्याधि का क्षय करके श्रेष्ठ निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

★ ये योगी, भगवान् योग के अंत में यानि शैलेशी अवस्था में सभी योगों में प्रधान ऐसे अयोग यानि अव्यापार से सभी प्रकार से संसार रूप व्याधि का क्षय करके शीघ्र ही यानि पाँच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण जितने काल में ही परं निर्वाण यानि भाव निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

वहाँ मोक्ष में ये कैसे होते हैं, वह कहते हैं-

DATE ___/___/___

व्याधिमुक्तः पुमान् लोके यादृशस्तादृशो ह्ययम्
नाभावो न च नो मुक्तो व्याधिनाऽव्याधितो न च ॥187॥

- लोक में जैसा व्याधि से मुक्त पुरुष होता है, वैसा ही यह मुक्त जीव होता है। परंतु आत्मा का अभाव नहीं होता और वह आत्मा व्याधि मुक्त नहीं हुआ ऐसा भी नहीं है, पूर्व में अव्याधित था ऐसा भी नहीं है।

* जिस प्रकार व्याधि से मुक्त कोई पुरुष संसार निश्चिंत होता है, वैसे ही ये ~~पुरुष~~ योगी मोक्ष में सुखमय (सुखमय) होते हैं।

* बौद्ध दर्शन ऐसा मानता है कि आत्मा मुक्त होने के बाद अभाव रूप हो जाता है, उसका अस्तित्व मिट जाता है। इस बात का खंडन करते हुए ग्रंथकार भ. कहते हैं कि मुक्तात्मा का अभाव नहीं होता, वह अनंतकाल तक अस्तित्व में रहता है। बुझे हुए दीपक की उपमा वाला अभाव नहीं होता।

* कुछ अन्यदर्शन ऐसा मानते हैं कि मुक्तात्मा संसार रूप व्याधि से सर्वथा मुक्त नहीं होता, जीवों के उद्धार के लिए वे पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। इस मान्यता का खंडन करते हुए कहते हैं कि मुक्तात्मा व्याधि से संपूर्णतया मुक्त होता है क्योंकि उसका भवत्व का परिक्षय हो गया है। भवत्व के क्षय से उसका कभी मोक्ष नहीं होगा और संसार में आगमन भी नहीं होगा।

* सांख्य दर्शन ऐसा मानता है कि आत्मा नित्य है इसलिए वह संसार और मोक्ष में व्याधि रहित समान स्वभाव वाला है। इसका खंडन करते हैं कि आत्मा पूर्व में उस प्रकार की व्याधियाँ होने से संसार में व्याधित होता है।

पूर्व में आत्मा व्याधित था, इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं-

भव एव महाव्याधिर्जन्ममृत्युविकारवान्
विचित्रमोहजननस्तीव्ररागादिवेदनः ॥188॥

- जन्म और मृत्यु रूप विकार वाला, विचित्र मोह को उत्पन्न करने वाला और तीव्र रागादि के वेदन वाला संसार ही महाव्याधि है।

* संसार ही जीव के लिए महाव्याधि है। यह संसार कैसा है? वह कहते हैं-

DATE ___/___/_____

(i) जन्ममृत्युविकारवान्- जन्म, मृत्यु आदि रूप विकार वाला यह संसार है। जरा आदि अन्य दुःखों का यह उपलक्षण है।

(ii) विचित्रमोहजनन- मिथ्यात्व का उदय होने से यह संसार विचित्र मोह को उत्पन्न करने वाला है जिससे उसे सही रास्ता पता नहीं चलता।

(iii) तीव्ररागादिवेदन- स्त्री आदि के राग होने से संसार तीव्र राग-द्वेष आदि वेदन वाला है।

यह व्याधि कैसी है, वह कहते हैं-

मुख्योऽयमात्मनोऽनादिचित्रकर्मनिदानजः
तथानुभवसिद्धत्वात्सर्वप्राणभृतामिति ॥१४७॥

- सभी जीवों को उस प्रकार के अनुभव से सिद्ध होने से अनादि कर्म के कारण उत्पन्न ऐसी यह आत्मा की व्याधि मुख्य है।

★ जीव की यह संसार रूप व्याधि मुख्य है अर्थात् निरूपचरित है, उपचार रहित है, वास्तविक है। क्योंकि तिर्यंच आदि सभी जीवों को जन्मादि के अनुभव से सिद्ध है।

★ यह व्याधि कैसी है, वह कहते हैं- अनादि से इकट्ठे किए हुए विचित्र कर्मों के कारण यह व्याधि उत्पन्न हुई है अर्थात् द्रव्य और भाव के भेद से भिन्न कर्मों के बल से उत्पन्न यानि द्रव्य कर्म= कर्म के पुद्गल आत्मा के साथ जुड़े हुए भाव कर्म= जीव के परिणाम। इन दोनों प्रकार से उत्पन्न कर्म के बलों से यह व्याधि उत्पन्न हुई है।

जो मुक्तात्मा है, वह भी निरूपचरित है, इस बात को सिद्ध करते हैं-

एतन्मुक्तश्च मुक्तोऽपि मुख्य एवोपपद्यते
जन्मादिदोषविगमात्तददोषत्वसङ्गतेः ॥१७०॥

- इस व्याधि से मुक्त ऐसी मुक्तात्मा भी मुख्य ही घट्ट घटित होती है क्योंकि जन्मादि दोष के विगम से उसका अदोषत्व ही संगत है।

DATE ___/___/___

* इस भवव्याधि से मुक्त ऐसा सिद्धात्मा भी मुख्य यानि निरुपचरित, वास्तविक ही होता है क्योंकि वहाँ प्रवृत्ति का निमित्त है। अर्थात् मुक्त होने की प्रवृत्ति का निमित्त वहाँ है।
* इसका कारण कहते हैं कि जन्म आदि सभी दोषों के नाश से उस आत्मा, दोष वाली उस आत्मा को ही अदोषत्व की प्राप्ति होती है। इस अदोषत्व की प्राप्ति से ही, वह पद निरुपचरित है।

अदोषत्व की प्राप्ति को ही स्पष्ट करते हैं:-

तत्स्वभावोपमर्देऽपि तत्तत्स्वाभाव्ययोगतः
तस्यैव हि तथाभावात्तददोषत्वसङ्गतिः ॥181॥

- उसके स्वभाव का उपमर्दन होने पर भी उस-उस स्वभाव के योग से उस ही आत्मा का उस प्रकार का होने से, उसके अदोषत्व की संगति है।
* कोई पदार्थ का स्वभाव है कि पूर्व अवस्था के स्वभाव का नाश होता है तो नई अवस्था के स्वभाव की प्राप्ति होती है।
* जब आत्मा मुक्त होता है तो उसके कर्मजनित ऐसे जन्मादि भावों का विगम यानि नाश होता है और मोक्ष के योग्य स्वभाव की प्राप्ति होती है।
* उस आत्मा के स्वभाव का नाश (उपमर्द) होने पर उस-उस स्वभाव का योग होता है। इस योग से आत्मा के अदोषत्व की संगति है।
* इसी बात को इस प्रकार (तथाहि) स्पष्ट करते हैं:- उस आत्मा का ही इस प्रकार का ही स्वभाव है, जिस स्वभाव से वह आत्मा ही उस प्रकार (तथा) का होता है, अर्थात् अन्य कोई उत्पन्न नहीं होता।
* उसी आत्मा के उस प्रकार का होने से यानि जन्मादि के त्याग से जन्मादि से अतीत होने से उस अ दोष वाले आत्मा को अदोषत्व की संगति यानि प्राप्ति है।
* इससे यह सिद्ध हुआ कि श्लोक 187 में कही सभी बात सही है।

DATE ___/___/___

यहाँ पर यह बात स्वीकार ने जैसी है-

स्वभावो ऽस्य स्वभावो यन्निजा सत्तैव तत्त्वतः
भावावधिरयं युक्तो नान्यथा ऽतिप्रसङ्गतः ॥७२॥

- इस आत्मा का स्वभाव स्व-भाव (स्वयं का होना) है यानि तत्व से निज सत्ता ही है। यह स्वभाव भाव (होने) की अवधि वाला ही युक्त है, अन्यथा (अभाव में) युक्त नहीं है, अन्यथा युक्त में अतिप्रसंग दोष है।

★ किसी भी वस्तु का स्वभाव स्व के भाव (होने) में ही है, स्व के अभाव में नही है। स्व के होने में भी स्वयं की सत्ता ही तात्त्विक रीति से स्वभाव है। किसी किसी भी पदार्थ का अभाव रूप स्वभाव नहीं होता।

★ इस बात को ही यहाँ आत्मा पर घटाते हैं।

★ आत्मा का स्वभाव भी स्व-भाव यानि निज, स्वयं की सत्ता है। यह स्वभाव भी भाव की अवधि वाला ही युक्त है अर्थात् स्वभाव भी पदार्थ की सत्ता वाला ही युक्त है, पदार्थ की असत्ता वाला कोई स्वभाव नहीं होता।

★ अन्यथा यानि स्वभाव को असत्ता रूप मानने में अतिप्रसंग दोष होता है,

इस अतिप्रसंग दोष को ही कहते हैं-

अनन्तरक्षणाभूतिरात्मभूतेह यस्य तु
तयाऽविरोधान्नित्योऽसौ स्यादसत्त्वात्सदैव हि ॥७३॥

- जिस वादी के मत से यहाँ अनंतर क्षण में अभूति है आत्मभूत है, उस अभूति के साथ अविरोध से यह आत्मा या तो हमेशा नित्य रहेगा अथवा विरोध से हमेशा अनित्य रहेगा।

अनन्तरक्षणाभूति- पूर्व और पश्चात् क्षण में पदार्थ का अभाव, असत्ता।

★ इस प्रकार की अभूति जिस वादी को आत्मभूत यानि मान्य है, उस वादी के
★ दोष कहते हैं-(या जिस वर्तमान की अनंतरक्षण में अभूति है, उस वर्तमान के दोष कहते

(i) अनंतर की अभूति यानि अभाव के साथ और वर्तमान क्षण में भाव (सत्) के साथ यदि अविरोध मानो, तो अविरोध रूप कारण से यह वर्तमान क्षण

DATE ___/___/___

नित्य हो जाएगी क्योंकि वर्तमान क्षण की तरह (तद्वत्) हमेशा उस वर्तमान का ही भाव रहेगा यानि वर्तमान क्षण ही विद्यमान रहेगा।
भावार्थ यह है कि पूर्वापर क्षण का अभाव और वर्तमान क्षण का भाव दोनों एक क्षण में साथ में रहे, इस कथन में अविरोध मानोगे अथवा विरोध मानोगे?
यदि अविरोध मानोगे यानि यह कथन सही मानोगे तो हमेशा वर्तमान क्षण ही नित्य हो जाएगी। वह इस प्रकार- सभी क्षण में अभाव और भाव साथ में रहे ही रहते हैं। कोई भी विवक्षित क्षण वर्तमान काल्य है, उसमें पदार्थ भाव रूप है। जब द्वितीय क्षण आएगी तब वह भी वर्तमान हो जाएगी, उसमें भी पदार्थ भाव रूप होगा। इस प्रकार हर क्षण में पदार्थ भाव रूप होगा और वर्तमान क्षण नित्य हो जाएगी।
ii) अन्य पक्ष कहते हैं- पूर्वापर क्षणवर्ती अभाव और वर्तमान क्षणवर्ती भाव दोनों एक ही क्षण में साथ में रहे, इसका विरोध मानोगे तो अभूति के साथ विरोध होने से विरोध से ग्रस्त होने के कारण वर्तमान भी हमेशा असत् बन जाएगी।
वह इस प्रकार - सिर्फ वर्तमान क्षण में भाव है, बाकी सब अभाव है। कोई एक विवक्षित क्षण वर्तमान है, उसमें भाव है। जब वह क्षण पसार हुई तब द्वितीय क्षण आएगी। द्वितीय क्षण में अभूति है, भाव नहीं है। वह द्वितीय क्षण वर्तमान बनेगी किंतु वहाँ भाव नहीं होने से वह वर्तमान बन ही नहीं सकेगी। इसी प्रकार तृतीयादि क्षण भी वर्तमान नहीं बन सकेगी क्योंकि अभूति वर्तमानता की विरोधी है। इस प्रकार हर क्षण में पदार्थ असत् होगा और वर्तमान क्षण असत् हो जाएगी।
इस प्रकार अतिप्रसंग दोष हुआ।
★ इस प्रकार ग्रंथकार भ. ने युक्ति से यह स्थापित किया कि पदार्थ हमेशा भावाविधि यानि निज सत्ता के स्वभाव वाला होता है, वह कभी अभाव रूप नहीं होता। (श्लोक 192)

DATE ___/___/_____

परोक्ति (पूर्वपक्ष) - ग्रंथकार ने यह स्थापन किया कि पदार्थ भावाक्षि वाला है, तो पूर्वपक्ष वाले कहते हैं कि हम पदार्थ को क्षणिक मानते हैं यानि पदार्थ एक क्षण ही भाव होता है, बाकी अभावरूप होता है। अनन्तर क्षण में वह पदार्थ नष्ट होता है और नया पदार्थ उत्पन्न होता है। हमारा सिद्धान्त "स एव न भवति" = वही पदार्थ अनन्तर क्षण में नहीं होता। कुछ अन्य दर्शन जो वस्तु को नित्य मानते है उनका सिद्धान्त "स एव अन्यथा भवति" = वही पदार्थ अनन्तर क्षण में अन्यथा यानि अन्य प्रकार का होता है।

यह पूर्व पक्ष का वचन है। इस वचन मात्र के परिहार के लिए ग्रंथकार भ कहते हैं:-

स एव न भवत्येतदन्यथा भवतीतिवत्
विरुद्धं तन्नयादेव तदुत्पत्त्यादितस्तथा ॥७५॥

- 'स एव न भवति' यह वचन 'अन्यथा भवति' की तरह उसके (न भवति) नय से ही विरुद्ध है और अभाव की उत्पत्ति आदि से भी विरुद्ध है।

★ "स एव" यह पद भाव यानि सत्ता का कथन करने वाला है।
★ "न भवति" यह पद अभाव यानि असत्ता का कथन करने वाला है।
★ "अन्यथा भवति" इसे यहाँ दृष्टान्त लिया है।
★ "सएव अन्यथा भवति" इस प्रकार कहने पर 'न भवति' पक्ष वाले इस प्रकार कहते हैं - यदि वह ही पदार्थ है तो अन्यथा कैसे होता है? और यदि अन्यथा होता है, 'वही' कैसे होता है?
★ ग्रंथकार भ. इसी दृष्टांत को पकड़ते हैं, कहते हैं - यह दोष तो 'स एव न भवति' इस कथन में भी समान ही है। वह इस प्रकार - यदि वह ही है तो 'न' यानि असत् कैसे होता है? और यदि असत् हो तो 'वही' कैसे होता। इस प्रकार यह कथन भी विरुद्ध है।
★ इस कथन में अन्य भी दोष होता है। उस दोष के समूह को भी कहते हैं- अभाव की उत्पत्ति आदि से भी यह कथन विरुद्ध है अर्थात्

DATE ___/___/___

'न भवति' पक्ष वाले ऐसा कहते हैं कि प्रथम क्षण का पदार्थ नष्ट होता है और द्वितीय क्षण में नया पदार्थ उत्पन्न होता है। इस अभावात्मक पदार्थ की उत्पत्ति भी दोष है। जो पहले था ही नहीं, वह उत्पन्न कैसे हो गया। इस दोष से भी यह कथन विरुद्ध है।

इन दोषों की भावना के लिए यानि विस्तार से समझाने के लिए कहते हैं-

सतोऽसत्त्वे तदुत्पादस्ततो नाशोऽपि तस्य यत्
तन्नष्टस्य पुनर्भवः सदा नाशे न तास्थितिः ॥१९५॥

- सत् का असत् पन मानने पर 'असत् का उत्पाद' है। फिर असत् का नाश भी होगा। इस कारण से नष्ट ऐसे असत् का पुनर्भव यानि फिर से उत्पत्ति होगी। यदि सदा नाश ही मानोगे तो उसकी स्थिति रहेगी ही नहीं।

* पूर्व के श्लोक 194 में 'तदुत्पत्त्यादि' कहा था। उसमें आदि शब्द से असत् असत् वस्तु के पक्ष में होने वाले दोष यहाँ कहते हैं।

'स एव न भवति' इस वचन से सत् पदार्थ का अनन्तर क्षण में असत् पन स्वीकारने पर कादाचित्कत्व से असत् की उत्पत्ति का दोष आएगा। कादाचित्क यानि कभी-कभी होने वाला। ऐसे कभी-कभी उत्पन्न होने के स्वभाव से असत् की उत्पत्ति होगी।

* यदि असत् की उत्पत्ति मानोगे तो उसका नाश भी मानना पड़ेगा क्योंकि 'उत्पत्ति वाला है, वह अनित्य है' इस प्रकार 'न भवति' पक्ष वाले का मत है। अनित्यता के कारण उस असत् पदार्थ का नाश भी होगा।

* इस असत् का नाश मानने के लिए पहले नष्ट हुए यानि असत् हुए सत् पदार्थ की वापस उत्पत्ति माननी पड़ेगी। सत् पदार्थ की उत्पत्ति उसी रूप से माननी पड़ेगी। क्योंकि सत् की उत्पत्ति बिना असत् पदार्थ के विनाश की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् सत् की उत्पत्ति नहीं होगी वहाँ तक असत् का विनाश नहीं होगा। इस प्रकार पहले सत्,

DATE ___/___/_____

फिर असत् का उत्पाद, फिर असत् का विनाश और पुनः सत्, इस प्रकार धारा चलेगी। यानि ~~नाश~~ नष्ट हुए घटादि की ~~पुन~~ पुनरुत्पत्ति का प्रसंग आएगा।

★ पूर्वपक्ष वाले इस दोष से बचने के लिए कहते हैं कि सत् पदार्थ का जो नाश है, वह नाश नाशात्मक यानि अभावात्मक है और वह नाश पूर्व और पश्चात् क्षणों में अवस्थित यानि नित्य ही है।

★ इस आशंका का निवारण करते हुए कहते हैं- यदि पदार्थ का हमेशा नाश ही मानोगे तो कोई भी काल में उसकी स्थिति, सत्ता नहीं हो सकती क्योंकि वह विवक्षित वर्तमान क्षण में भी नष्ट हो जाएगा।

इस प्रकार ग्रंथकार भ. ने नाश की नित्यता में भी दोष कहे, अब यदि नाश को अनित्य मानो तो क्या दोष होंगे, वह कहते हैं-

स क्षणस्थितिधर्मा चेद् द्वितीयादिक्षणेऽस्थितौ
युज्यते ह्येतदप्यस्य तथा चोक्तानतिक्रमः ॥१७८॥

- यदि वह नाश क्षण स्थिति धर्म वाला है, तो द्वितीयादि क्षण में अस्थिति होने पर इस अस्थिति का भी क्षणस्थितिधर्मत्व ही घटेगा और इस प्रकार मानने पर उक्त दोषों का अतिक्रम नहीं होता।

★ नाश की नित्यता स्वीकारने में ग्रंथकार भ. ने दोष बताए।

★ अब यदि पूर्वपक्ष वाले नाश को अनित्य कहे तो उसके दोष भी ग्रंथकार भ. कहते हैं- यदि वह नाश क्षणस्थिति स्वभाव वाला यानि क्षणिक है तो द्वितीयादि क्षणों में उसकी अस्थिति हो जाएगी। नाश की अस्थिति होने फिर ~~वह~~ उस अस्थिति को क्षणस्थिति वाली मानना पड़ेगा। उसे क्षणिक मानने पर फिर से श्लोक १७८ में बताए दोष घटेंगे और दोषों का उल्लंघन नहीं होगा।

उन दोषों का उल्लंघन कैसे नहीं होता-

DATE ___/___/___

क्षणस्थितौ तदैवास्य नास्थितिर्युक्त्यसङ्गते:
न पश्चादपि सेत्येवं सतोऽसत्त्वं व्यवस्थितम् ॥197॥

- सत् की क्षण स्थिति मानने पर उसी विवक्षित क्षण में युक्ति की असंगति से अस्थिति घटेगी नहीं और बाद में भी नहीं घटेगी। इस प्रकार सत् का असत् पन व्यवस्थित है और यह होने पर श्लोक 195-196 के दोष रहेंगे।

* इस श्लोक में श्लोक 193 के ~~प्रथम~~ द्वितीय दोष को ही कहते हैं कि। ~~सिर्फ इतना अंतर है कि वहाँ पूर्वमिश्र क्षण में अस्थिति थी और यहाँ पूर्वमिश्र क्षण में भी स्थिति है। और अस्थिति होने का वर्णन करते हैं।~~
* पदार्थ को क्षण स्थिति वाला मानने पर एक ही विवक्षित क्षण में उस पदार्थ की अस्थिति नहीं मान सकते क्योंकि 'एक ही क्षण में स्थिति और अस्थिति साथ में नहीं हो सकते' इस युक्ति की संगति नहीं है।
* ~~द्वितीयादि~~ पश्चाद् के क्षण में भी दोष आएगा। ~~यहाँ दो पक्ष हैं~~ या तो द्वितीयादि क्षण में स्थिति स्वीकारो, या अस्थिति। यदि स्थिति स्वीकारोगे तो इसी युक्ति की असंगति से
* पश्चात् के द्वितीयादि क्षण में अस्थिति मानने पर भी दोष आएगा। द्वितीयादि क्षण में वह अस्थिति नहीं है, ऐसा नहीं अर्थात् अस्थिति है

* श्लोक 196 में कहा कि नाश की अस्थिति भी क्षणिक होगी।
* इस प्रकार पदार्थ के नाश की द्वितीयादि क्षण में अस्थिति होने पर श्लोक 195 में कहे दोष Repeat होते हैं, उन्हें ही यहाँ कहते हैं।
* ~~नाश को~~ विवक्षित वर्तमान क्षण में अधिकृत भाव यानि नाश की स्थिति मानने पर वहाँ अस्थिति नहीं घटेगी क्योंकि 'उसी क्षण में अस्थिति का विरोध है' इस प्रकार युक्ति की असंगति है।
* पश्चात् क्षण में पदार्थ की अस्थिति नहीं है, ऐसा नहीं अर्थात् अस्थिति

DATE ___/___/___

ही है। क्योंकि वहाँ भी 'अवास्थिति होने पर अस्थिति का विरोध है' इस युक्ति की असंगति है।

★ इस प्रकार सत् का असत्व इस मत में रहा हुआ है। सत् का असत्व मानने पर उसके उत्पाद आदि दोष आते हैं।

वस्तु को अनित्य मानने वाले पक्ष का खंडन हो गया। अब नित्य मानने पक्ष का खंडन करते हैं-

भवभावानिवृत्तावप्ययुक्ता मुक्तकल्पना
एकान्तैकस्वभावस्य न ह्यवस्थाद्वयं क्वचित् ॥133॥

- भव भाव की अनिवृत्ति मानने पर मुक्ति की कल्पना अयुक्त है क्योंकि एकान्त से एक स्वभाव वाले की दो अवस्था कभी संभव नहीं है।

★ एकान्त नित्यता होने पर आत्मा का स्वभाव कभी बदल नहीं सकता। स्वभाव नहीं बदलने से संसार के भावों की निवृत्ति नहीं हो सकती भव यानि संसार के भावों की अनिवृत्ति होने पर आत्मा की मुक्ति की कल्पना अयोग्य है।

★ कैसे? वह कहते हैं- एकान्त से एक स्वभाव वाले यानि च्युत और उत्पन्न नहीं होने से स्थिर एक स्वभावता से एक स्वभाव वाली ऐसी आत्मा की संसारी और मुक्त नामक दो अवस्था कभी भी संभव नहीं है क्योंकि दो अवस्था का एकांत एक स्वभाव पन के साथ विरोधाद्य है।

तदभावे च संसारी मुक्तश्चेति निरर्थकम्
तत्स्वभावोपमर्दोऽस्य नित्या तात्त्विक इष्यताम् ॥134॥

- दो अवस्था का अभाव मानने पर 'संसारी और मुक्त' निरर्थक है। इसलिए स्वभाव का उपमर्द ही नित्य से मानना ही न्याय से तात्त्विक है।

★ अवस्थाद्वय के अभाव में 'तिर्यंच आदि भाव वाली संसारी अवस्था और संसार के प्रपंच से अटकने आदि रूप मुक्त अवस्था' इस प्रकार का कथन

DATE ___/___/___

जो शास्त्रों में नित्यता है, वह निरर्थक हो जाएगा अर्थात् उसके अर्थ का अयोग होने से वह मात्र शब्दों में ही रहेगा।
इस कारण आत्मा के स्वभाव का उपमर्द यानि पूर्व अवस्था का नाश और नई अवस्था की प्राप्ति, यह उपमर्दन स्वीकारना ही न्याय से तात्त्विक, पारमार्थिक कहा जाता है।
वह उपमर्द कैसा है? वह कहते हैं- पूर्व अवस्था (तद्) से अन्य ऐसी दूसरी अवस्था द्वारा दूसरी अवस्था (तद्) से अन्य ऐसी पूर्व अवस्था को दूर करने के लक्षण वाला।

आत्मा के स्वभाव का उपमर्दन तात्त्विक मानने से क्या होता है? वह कहते हैं-

दिदृक्षायात्मभूतं तन्मुख्यमस्य निवर्तते
प्रधानादिनतेर्हेतुस्तदभावान्न तन्नतिः ॥२००॥

~~दिदृक्षादि~~ प्रधानादि परिणति का हेतु, आत्मभूत, मुख्य ऐसे दिदृक्षादि भाव निवर्तन पामते हैं। उसके अभाव से आत्मा को प्रधानादि की परिणति भी नहीं होती।

* दिदृक्षा और प्रधान ये सांख्य दर्शन के शब्द हैं।
* दिदृक्षा यानि आत्मा में कर्मबंध की योग्यता, आस्रव, भावमल्य। प्रधान यानि कर्मबंध।
* सांख्य दर्शन में प्रधान आदि की नति यानि परिणति का हेतु दिदृक्षादि भाव है। हमारे जैन दर्शन में आस्रव या भावमल्य कर्मबंध का कारण है।
* दिदृक्षादि भाव आत्मभूत है यानि अनादिकाल से आत्मा का एक सहज स्वभाव है, यह सत् है, असत् या उपचरित नहीं है। इसलिए यह मुख्य भाव है।
* ये भाव, आत्मा के भाव प्रयत्न से निवृत्त होते हैं।
* दिदृक्षा = संसार देखने की इच्छा (सांख्य)
अविद्या = हेय-उपादेय का विपरीत ज्ञान (वेदान्त)

DATE ___/___/_____

मल। सहज मल। भावमल= राग-द्वेष-मोहात्मक आन्तर मैल (जैन)
भवाधिकार= संसारि भावों की प्रवृत्तता (शैव)
इस प्रकार अलग-अलग दर्शन में दिदृक्षादि भाव अलग-अलग नाम से जाने जाते हैं।

★ दिदृक्षादि भाव कैसे हैं? वह कहते हैं- प्रधानादि भावों की परिणति के कारण यानि कर्मबंध के कारण हैं।

★ इन दिदृक्षादि भावों के अभाव से मुक्तात्मा को प्रधानादि भावों की परिणति यानि कर्मबंध नहीं होता।

★ इस प्रकार आत्मा के स्वभाव का उपमर्द ही तात्त्विक है।

श्लोक 199-200 में बताया कि स्वभाव का उपमर्द स्वीकारना चाहिए। अब यदि उपमर्दन न स्वीकारे तो क्या दोष होंगे वह कहते हैं-

अन्यथा स्यादियं नित्यमेषा च भव उच्यते
एवं च भवनित्यत्वे कथं मुक्तस्य सम्भवः ॥२०॥

- अन्यथा यह प्रधानादि की परिणति नित्य हो जाएगी और यही संसार कहलाती है। और इस प्रकार संसार नित्यत्व होने पर मुक्त की संभावना कैसे है?

★ यहाँ स्वभाव का उपमर्दन स्वीकारना चाहिए। अन्यथा यदि नहीं मानो तो प्रधानादि की परिणति यानि कर्मबंध सदैव हमेशा चलता रहेगा।

★ इस कारण से यह परिणति संसार कहलाती है क्योंकि यह परिणति होने पर परिणतिआत्मक महत् आदि भाव भी विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार संसार भाव भी नित्य रहते हैं।

★ इस प्रकार ऊपर कही हुई नीति से संसार नित्य होने पर मुक्त का संभव कैसे है यानि मुक्तात्मा की संभावना कैसे है? अर्थात् नहीं है।

पूर्वपक्ष वाले कहते हैं कि तत्त्व से तो अवस्थाद्वय नहीं होती है। इसका उत्तर

DATE ___/___/___

ते हैं-

अवस्था तत्त्वतो नो चेन्ननु तत्प्रत्ययः कथम्
भ्रान्तोऽयं किमनेनेति मानमत्र न विद्यते ॥202॥

यदि यह अवस्थाद्वय तत्त्व से नहीं है तो उसका अनुभव कैसे होता है? यह अनुभव भ्रान्त है, इस अनुभव से क्या?' इस कहने पर प्रकार कहो तो स भ्रान्ति में कोई प्रमाण नहीं है।

पूर्व-अपर रूप होने से अवस्था-द्वय तत्त्व से यानि परमार्थ से नहीं है। इस प्रकार आशंका कर कहते हैं- इस अवस्थाद्वय का प्रत्ययय यानि अनुभव कैसे होता है? क्या यह कारण बिना ही होता है?

'यह अवस्थाद्वय का अनुभव भ्रान्त है, इस प्रत्यय से क्या यानि कुछ नहीं। स प्रकार आशंका कर कहते हैं- इस भ्रान्तपने के संबंध में कोई प्रमाण यहाँ विद्यमान नहीं है।

योगिज्ञानं तु मानं चेत् तदवस्थान्तरं तु तत्
ततः किं भ्रान्तमेतत्स्यादन्यथा सिद्ध साध्यता ॥203॥

यदि योगिज्ञान को मान/प्रमाण कहोगे तो वह भी उसकी अन्य अवस्था ही होगी, उससे क्या? ज्ञान को भी भ्रान्त मानोगे? अन्यथा सिद्ध व साध्यता होगी।

'अ योगिज्ञान ही इस बात का प्रमाण है। इस प्रकार शंका कर कहते हैं- 'वह भी योगी की अन्य अवस्था ही होगी क्योंकि उसकी पूर्व अवस्था में तो उसका ज्ञान भी भ्रान्त था।

'वह योगी का ज्ञान अन्य अवस्था है, उससे क्या? इस प्रकार शंका कर कहते हैं- यदि वह ज्ञान अन्य अवस्था नहीं मानोगे तो यह योगी का ज्ञान भी भ्रान्त होगा। अन्यथा (यदि ज्ञान भ्रान्त नहीं मानोगे तो) सिद्ध यानि अन्य अवस्था 'जो हमें सिद्ध है वह सिद्ध हो जाएगी, साबित हो जाएगी।

भावार्थ- 'अवस्था द्वय का अनुभव भ्रान्त है' इस कथन का प्रमाण

DATE ___/___/_____

पूर्वपक्ष वाले योगी के ज्ञान को कहते हैं। तो उससे ग्रंथकार भ. पूछते हैं कि योगी के ज्ञान को भ्रान्त मानोगे या अभ्रान्त? यदि भ्रान्त मानोगे तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। यदि अभ्रान्त मानोगे तो वह योगी की दूसरी अवस्था होगी क्योंकि पहली अवस्था में तो उसे संसार का भ्रान्त ज्ञान था। फिर जब वह योगी बना तब उसे दूसरी अवस्था में अभ्रान्त ज्ञान हुआ। इस प्रकार अवस्थाद्वय जो हमें सिद्ध करना थी, वह सिद्ध हो गई।

आनुषंगिक बात कही गई, अब प्रस्तुत विषय की बात कहते हैं। सिद्ध का स्वरूप जो श्लोक 187 'व्याधिमुक्तः पुमान् त्यौके', इस श्लोकानुसार सिद्ध का स्वरूप समझना। यह चर्चा उस स्वरूप की सिद्धि के लिए की गई थी। उसी विषय में प्रस्तुत बात कहते हैं-

व्याधितस्तदभावो वा तदन्यो वा यथैव हि
व्याधिमुक्तो न सन्नीत्या कदाचिदुपपद्यते ॥204॥

- व्याधियुक्त पुरुष, अभावात्मक पुरुष अथवा व्याधिग्रस्त से अन्य पुरुष, जैसे सद् नीति से ये तीनों कभी भी व्याधिमुक्त नहीं कहे जाते। (श्लोक 205 से संबंध है।)

★ व्याधित= जिसे व्याधि हुई हो वह।
★ तदभाव = व्याधित पुरुष का अभाव यानि मृत्यु, मृत पुरुष।
★ तदन्य= व्याधित पुरुष से अन्य ऐसे उसके पुत्रादि।
★ जैसे तीनों न्याय में से एक भी पुरुष सद् न्याय से व्याधिमुक्त नहीं कहलाता। (श्लोक 205)

संसारी तदभावो वा तदन्यो वा तथैव हि
मुक्तोऽपि हन्त नो मुक्तो मुख्यवृत्त्येति तद्विदः ॥205॥

- वैसे ही संसारी, अभाव वाला जीव, अथवा एकांत असंसारी पुरुष भी, मुक्त भी मुख्यवृत्ति से मुक्त नहीं है, इस प्रकार विद्वान् कहते हैं।

DATE ___/___/___

संसारी कुछ पुरुष व्याधित पुरुष की उपमा वाला है। वह कभी भी मुक्त नहीं कहा जा सकता।

पुरुष अभाव मृत पुरुष की उपमा वाला है। जैसे मृत पुरुष संसार से मुक्त नहीं कहलाता, वैसे क्षणिकवादानुसार क्षणिकात्मा यानि आत्मा का अभाव कभी नहीं मुक्त नहीं कहलाता।

तदन्य यानि संसार से अन्य अर्थात् कूटस्थ नित्य, एकान्त लक्षण वाला पुरुष। एकान्त नित्य पुरुष दो प्रकार से - (i) संसारी अवस्था में नित्य (ii) मुक्तावस्था में नित्य। ये दोनों प्रकार के पुरुष व्याधित पुरुष से अन्य उसके पुत्रादि की उपमा वाले हैं। जैसे व्याधित पुरुष से अन्य पुत्रादि कभी व्याधिमुक्त नहीं कहलाते वैसे एकांत संसारी अवस्था वाला पुरुष भी स्वभाव नहीं बदलने से मुक्त नहीं हो सकता।

~~इसी प्रकार~~ कुछ दर्शनकार ऐसा मानते हैं कि आत्मा तो मुक्त ही है किंतु उसे प्रकृति (कर्म) परेशान करते हैं, जिससे वह संसार में आ जाता है। अथवा ब्रह्म शक्ति इसे स्वयं से अलग कर यहाँ भेजती है। यहाँ आकर वह पुनः मुक्त होता है। ग्रंथकार भ. इस मत का खंडन करते हैं - मुक्त भी ऐसी आत्मा मुख्य वृत्ति से मुक्त नहीं कहलाती। क्योंकि पहले व्याधिवाले न हो (पुत्रादि) वे व्याधिमुक्त नहीं कहलाते वैसे ही ये आत्मा भी मुक्त नहीं कहलाती।

इस ग्रंथकार भ. ने ~~मुक्तात्मा~~ मुक्तात्मा संबंधी भिन्न-भिन्न मतों का खंडन किया।

तो फिर मुक्त व्यवस्था कैसी है? वह कहते हैं -

क्षीणव्याधिर्यथा लोके व्याधिमुक्त इति स्थितः
भवरोग्येव तु तथा मुक्तस्तन्त्रेषु तत्क्षयात् ॥ 206 ॥

- जैसे लोके में क्षीण व्याधि वाला व्याधिमुक्त कहलाता है, वैसे सिद्धान्त में भवरोगी ही उसके क्षय से मुक्त कहलाता है।

लोके में जिस पुरुष की व्याधि क्षीण हो गई हो वही निर्विवाद रूप से व्याधिमुक्त कहलाता है, 'यह व्याधिमुक्त है' इस प्रकार स्थित स्थित है,

DATE ___/___/_____

यानि वह उपचार से स्थापन करने योग्य नहीं है, स्वयं ही स्थित है।
★ वैसे ही सिद्धान्त में भवरोगी ही भव रूप रोग के क्षय से भव व्याधि मुक्त कहलाता है, मुक्त स्थित है अर्थात् निरूपचारित ऐसा मुख्य मुक्त भाव से वह स्थित है, स्थापनीय नहीं।

इस प्रकार ग्रंथ के विषय संबंधी प्रस्तुत बात को कहकर ग्रंथ के उपसंहार को कहते हैं-

अनेक योगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृतः
दृष्टिभेदेन योगोऽयमात्मानुस्मृतये परः ॥२०॥

-स्वयं की स्मृति के लिए श्रेष्ठ ऐसा यह योग अनेक योग शास्त्रों से दृष्टि के भेद द्वारा संक्षेप से उद्धृत किया गया।
★ ग्रंथकार भ. द्वारा यह योग कहे हुए लक्षण वाली दृष्टि के भेद द्वारा संक्षेप में इन्हे पातंजलादि अनेक योग शास्त्रों से उद्धृत किया गया यानि पृथक् किया गया। कैसे? जैसे दूध से मक्खन अलग किया जाता है वैसे। किस लिए? स्वयं की आत्मा की स्मृति के लिए।

ग्रंथरचना का अन्य प्रयोजन बताते हैं-

कुलादियोगिभेदेन चतुर्धा योगिनो यतः
अतः परोपकारोऽपि लेशतो न विरुध्यते ॥२०१॥

-कुल आदि योगियों के भेद से योगी चार प्रकार के हैं। इस कारण अंशत परोपकार भी विरुद्ध नहीं है।
★ सामान्य से योगी चार प्रकार के हैं- कुल योगी, प्रवृत्तचक्र, गोत्र, निष्पन्न योगी।
★ इस कारण से इस प्रकार के कुल योगी आदि की अपेक्षा अंशतः परोपकार भी विरुद्ध नहीं है यानि परोपकार भी अंश से ग्रंथ का प्रयोजन हो सकता है। क्योंकि इस ग्रंथ के श्रवण से भी योग का पक्षपातादि हो

DATE ___/___/___

सकता है।

ग्रंथ के अधिकारी कौन है, वह कहते हैं-

कुलप्रवृत्तचक्रा ये त एवास्याधिकारिणः
योगिनो न तु सर्वेऽपि तथाऽसिद्ध्यादिभावतः ॥209॥

- जो कुल योगी और प्रवृत्तचक्र योगी हैं, वे ही इस ग्रंथ के अधिकारी हैं। परंतु उस प्रकार की असिद्धि आदि होने से सभी योगी अधिकारी नहीं हैं।

* जो योगी कुल और प्रवृत्तचक्र योगी हैं, वे ही इस योग शास्त्र के योग्य हैं, अधिकारी हैं।
* सामान्य से सभी योगी इस ग्रंथ के अधिकारी नहीं हैं क्योंकि गोत्र योगियों को असिद्धि होने से और आदि शब्द से निष्पन्न योगियों को सिद्ध होने से, वे अधिकारी नहीं हैं।

कुल योगी के लक्षण कहते हैं-

ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये
कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥210॥

- जो योगी के कुल में जन्मे और उनके धर्म का अनुसरण करने वाले हैं, वे कुल योगी कहलाते हैं। गोत्र वाले भी दूसरे कुल योगी नहीं कहलाते।

* जो जन्म से ही योगी के कुल में हैं और जो अन्य भी उनके धर्म का अनुसरण वाले करने वाले हैं, वे द्रव्य और भाव से कुल योगी कहलाते हैं।
* जो सामान्य से भूमिभव्य हैं यानि आर्य देश में, योगी कुल में उत्पन्न हुए हैं किंतु उनके धर्म का अनुसरण करने वाले नहीं हैं, वे 'गोत्र योगी' कुल योगी नहीं कहलाते हैं।

कुल योगी के ही विशेष लक्षण कहते हैं-

DATE ___/___/_____

सर्वत्राऽद्वेषिणश्चैते गुरुदेवद्विजप्रियाः
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः ॥21॥

- ~~सभी जगह अद्वेषी~~ - ये कुल योगी सभी जगह अद्वेषी हैं, गुरु-देव और द्विज प्रिय हैं जिन्हें ऐसे हैं, दयालु हैं, विनीत हैं, बोध वाले हैं और यतेन्द्रिय हैं।

★ अद्वेषी - सभी जगह यानि सभी दर्शनों में द्वेष वाले नहीं हैं क्योंकि उन्हें उस प्रकार के आग्रह का अभाव है, अर्थात् कहीं भी एकांत आग्रह नहीं है, सही बात किसी दर्शन की स्वीकारेंगे।

★ गुरु - देव - द्विज प्रिय - धर्म के प्रभाव से इन योगी को गुरु, देव और द्विज बहुत प्रिय होते हैं। गुरु और देव तो संसार से उद्धार करने में उपकारी है और द्विज ~~भी~~ कल्याण मित्र हैं।
द्विज यानि ब्राह्मण। द्विज यानि जिसका दो बार जन्म हो, एक बार माता की कुक्षि से और दूसरी बार सम्यग्दर्शनादि संस्कारों से युक्त जन्म।
इस प्रकार द्विज के यहाँ दो अर्थ संभव हैं - (i) ज्ञानी ब्राह्मण और (ii) सम्यग्दृष्टि कल्याण मित्र।

★ दयालु - प्रकृति यानि स्वभाव से ही इन योगियों को क्लिष्ट पाप का अभाव होता है और अभाव से ही वे दयालु होते हैं।

★ विनीत - कुशल अनुबंध वाली भव्यता, योग्यता से ये जीव ~~भी~~ विनयवान होते हैं।

★ बोधवन्तो - ग्रंथि के भेद अर्थात् सम्यग्दर्शन से ये जीव बोध वाले होते हैं।

★ यतेन्द्रिय - चारित्र होने से संयमित इन्द्रिय वाले ये जीव होते हैं।

प्रवृत्तचक्र योगी के लक्षण कहते हैं -

प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्तं शुश्रूषादिगुणान्विताः ॥22॥

- प्रवृत्तचक्र योगी यमद्वय के आश्रय वाले, शेष यमद्वय के अत्यंत अर्थी

DATE ___/___/___

और शुश्रूषादि गुण से युक्त होते हैं।

★ यमद्वय समाश्रय- इच्छा यम और प्रवृत्ति यम का आश्रय करने वाले।

★ शेषद्वयार्थी- सदुपाय की प्रवृत्ति द्वारा स्थिरता यम और सिद्धि यम के अत्यन्त अर्थी।

★ शुश्रूषादि गुणों से युक्त।

★ बुद्धि के आठ गुण

(i) शुश्रूषा- धर्मतत्त्व सुनने की इच्छा।

(ii) श्रवण- गुरु के पास विनयपूर्वक तत्त्व सुनना।

(iii) ग्रहण- एकाग्रता से तत्त्व को समझना।

(iv) धारण- तत्त्व को भूलना नहीं, लंबे समय तक याद रखना।

(v) विज्ञान- उस तत्त्व के संबंधित अन्य विशेष ज्ञान प्राप्त करना (चिंतन से अथवा शास्त्र से) और उसे संशय, विपर्यय आदि दोषों से मुक्त करना।

(vi) ऊह- अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति आदि तर्कों द्वारा ज्ञान को ज्यादा स्पष्ट करना।

(vii) अपोह- अपोह यानि दूर करना। आगम शास्त्र और युक्ति से विरुद्ध अर्थ दूर करना। (विरुद्ध अर्थ तर्क से प्रगट हो सकता है।)

(viii) तत्त्वाभिनिवेश- विज्ञान, ऊह और अपोह से तत्त्व का यथार्थ निर्णय करना और उसमें अभिनिवेश, आग्रह रखना। कभी उसे छोड़ना नहीं।

~~और भी जो कोई~~ इस ग्रंथ के अधिकारी हैं, उन्हें कहते हैं-

आद्यावञ्चकयोगाप्त्या तदन्यद्वयवाप्तिमान्।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः ॥243॥

- आद्य अवंचक की प्राप्ति से अन्य दो अवंचक को प्राप्त करने वाले वे योगी योग के प्रयोग के अधिकारी हैं, इस प्रकार योगविद् कहते हैं।

★ प्रवृत्तचक्र योगी के लक्षण को विशेष से कहते हैं- जिन्होंने आद्य यानि प्रथम अवचंक अर्थात् योगावंचक योग प्राप्त कर लिया है और इस प्राप्ति से जो

DATE ___/___/_____

शेष दो अवंचक (क्रिया और फल) प्राप्त करने वाले हैं, ऐसे योगी इस योग के प्रयोग के अधिकारी हैं।)

★ योगावंचक की प्राप्ति से शेष दो अवंचक योग कैसे प्राप्त होते हैं? उ. क्योंकि योगावंचक की ऐसी अवन्ध्य यानि निश्चित योग्यता है, जिससे शेष द्वो प्राप्त हो जाते हैं।

पूर्व में कहे यमादि के स्वरूप को कहते हैं-

इहाऽहिंसादयः पञ्च सुप्रसिद्धा यमाः सताम्
अपरिग्रहपर्यन्तास्तथेच्छादि चतुर्विधाः ॥214॥

- यहाँ मुनियों के अहिंसादि अपरिग्रह पर्यन्त पाँच यम सुप्रसिद्ध है और वे इच्छादि चार प्रकार के हैं।

★ इस श्लोक में सभी दर्शनों में साधारणतया मुनियों के अहिंसादि पाँच यम यानि व्रत (अपरिग्रह तक) सुप्रसिद्ध है।

★ वे प्रत्येक इच्छादि चार प्रकार के हैं- (i) इच्छा यम (ii) प्रवृत्ति यम (iii) स्थिर यम (iv) सिद्धि यम।

चार यमों में प्रत्येक यम का एक-एक श्लोक द्वारा लक्षण कहते हैं-

तद्वत्कथाप्रीतियुता तथाऽविपरिणामिनी
यमेष्विच्छाऽवसेयेह प्रथमो यम एव तु ॥215॥

- यमवाले मुनि की कथा की प्रीति से युक्त और विपरीत परिणाम से रहित ऐसी पाँच यमों के विषय में इच्छा, वह प्रथम यम है।

★ पाँच यमों को अस्वीकारने की जो इच्छा, तीव्र इच्छा, वह यहाँ यमचक्र में प्रथम यम समझना।

★ वह इच्छा कैसी होती है? वह कहते हैं-

(i) तद्वत्कथाप्रीतियुत- यम वाले योगी की कथा सुनने की प्रीति से युक्त।

(ii) अविपरिणामिनी- यह इच्छा कोई भी परिस्थिति में विपरीत परिणाम वाली

DATE ___/___/___

नहीं बनती, यानि इच्छा मंद नहीं होती।

सर्वत्र शमसारं तु यमपालनमेव यत्
प्रवृत्तिरिह विज्ञेया द्वितीयो यम एव तत् ॥216॥

- सभी जगह शम प्रधान ऐसा यम का पालन ही प्रवृत्ति नामक द्वितीय यम जानना।

★ सामान्य से सभी प्रवृत्तियों में उपशम की प्रधानता वाला जो क्रिया विशिष्ट यम का पालन होता है, वह यहाँ यमचक्र में द्वितीय प्रवृत्ति यम जानना।

★ इच्छा यम के बहुत अभ्यास से यह भूमिका प्रगट होती है।

विपक्षचिन्तारहितं यमपालनमेव यत्
तत्स्थैर्यमिह विज्ञेयं तृतीयो यम एव हि ॥217॥

- विपक्षचिंता रहित जो यम का पालन, वही यहाँ स्थैर्य नामक तृतीय यम जानना

★ अतिचारादि रूप विपक्ष की चिंता से रहित यानि अतिचार रहित जो यम का पालन होता है, वह यहाँ यमों के विषय में स्थिरता होती है। यही तृतीय स्थिर यम है।

★ प्रवृत्ति यम में सातिचार व्रतपालन और यहाँ निरतिचार व्रत पालन होता है। प्रवृत्ति यम के बहुत अभ्यास से यह भूमिका प्रगट होती है।

परार्थसाधकं त्वेतत्सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः
अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम एव तु ॥218॥

- अचिंत्य शक्ति के योग से शुद्धान्तरात्मा का जो परार्थ साधक यम पालन है, वही चतुर्थ सिद्धि यम है।

★ शुद्ध अन्तर आत्मा को जो परार्थ साधक यानि परोपकारी यम पालन है, वही यह सिद्धि यम है।

★ यह यम अचिंत्य शक्ति के योग से मात्र शुद्ध आत्मा को ही होता है क्योंकि शुद्ध आत्मा के पास में वैर आदि दुष्ट भावों का त्याग होता है आदि।

DATE ___/___/_____

★ स्थिर यम के अतिशय अभ्यास से यह यम प्रगटता है।

तीन अवंचक के स्वरूप के एक-एक श्लोक द्वारा कहते हैं-

सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनैः
तथा-दर्शनितो योग आद्यावञ्चक उच्यते ॥२७॥

- कल्याण से संपन्न, दर्शन से भी पावन ऐसे सत्पुरुषों के साथ उस प्रकार के दर्शन से जो योग होता है, वह आद्यावञ्चक या योगावंचक कहलाता है।

★ विशिष्ट पुण्यवान्, कल्याण से संपन्न (योगदशा को प्राप्त), दर्शन से ही योगी को पावन-पवित्र करने वाले ऐसे सत्पुरुषों का उस प्रकार का गुणवान् पना होने से विपर्यास के अभाव द्वारा दर्शन यानि पहचान से योग होना अर्थात् 'ये गुणी हैं' इस प्रकार उनकी पहचान से उनके साथ जो योग-संबंध होता है, वह आद्यावंचक या सद् योगावंचक कहलाता है।

तेषामेव प्रणामादिक्रियानियम इत्यलम्
क्रियावञ्चकयोगः स्यान्महापापक्षयोदयः ॥२०॥

- महापाप का क्षय करने वाला ऐसा उन्हीं महापुरुषों का प्रणाम आदि क्रिया का नियम क्रियावंचक योग होता है।

★ उन महापुरुषों को ही प्रणामादि क्रिया का नियम क्रियावंचक योग होता है।

★ यह योग महापाप का क्षय करने वाला है, नीच गोत्र कर्म का क्षय करने वाला है

फलावञ्चकयोगस्तु सद्भ्य एव नियोगतः
सानुबन्धफलावाप्तिर्धर्मसिद्धौ सतां मता ॥२१॥

- फलावंचक योग उन सत्पुरुषों से ही अवश्य धर्मसिद्धि में अवश्य सानुबंध फल की प्राप्ति संतो को मान्य है।

★ उन सत्पुरुषों से ही धर्म की सिद्धि में अवश्यंतया उस प्रकार के सदुपदेश आ से सानुबंध फल की जो प्राप्ति होती है, वही सज्जनों ने अंतिम ऐसा

DATE ___/___/___

फलावंचक नामक उत्तम योग माना है।

इस प्रकार योगियों का और, अवंचक का और यमों का स्वरूप कहकर, उसे ग्रंथ के उपसंहार रूप प्रस्तुत विषय से जोड़ते हुए कहते हैं-

कुलादियोगिनामस्मान्मत्तोऽपि जडधीमताम्
श्रवणात्पक्षपातादेरुपकारोऽस्ति लेशतः ॥२२२॥

- मुझसे भी जड़ बुद्धि वाले ऐसे कुलादि योगियों को ग्रंथ के श्रवण से पक्षपातादि के कारण लेश से उपकार है।

* मुझसे भी जड़ बुद्धि वाले ऐसे अन्य लोगों को और उक्त लक्षण वाले कुलादि योगियों को इस योगदृष्टिसमुच्चय नामक ग्रंथ से श्रवण द्वारा पक्षपात और योग की शुभ इच्छा आदि होने के कारण उस अंशतः उपकार होता है। क्योंकि उस श्रवण से उस प्रकार के बीज की पुष्टि होती है अर्थात् कोई योगी के हृदय में योग का बीज पड़ा हो, तो उसे पुष्टि मिलने के कारण उपकार हो सकता है।

सिर्फ पक्षपात से कौन-सा उपकार होता है? इस प्रकार आशंका कर कहते हैं-

तात्त्विकः पक्षपातश्च भावशून्या च या क्रिया
अनयोरन्तरं ज्ञेयं भानुखद्योतयोरिव ॥२२३॥

- तात्त्विक पक्षपात और भावशून्य क्रिया, इन दोनों में सूर्य और जुगनू जितना अंतर जानना।

* योग का तात्त्विक यानि पारमार्थिक पक्षपात और भावशून्य जो क्रिया है, इन दोनों में सूर्य और जुगनू जितना बड़ा अंतर जानना।

* इसलिए ग्रंथ श्रवण द्वारा पक्षपात होना भी तत्त्व से उपकार है अल्पवत्त पक्षपात के साथ क्रिया का प्रयास भी होना चाहिए।

DATE ___/___/_____

इसी बात को विशेष से कहते हैं-

खद्योतकस्य यत्तेजस्तदल्पं च विनाशि च
विपरीतमिदं भानोरिति भाव्यमिदं बुधैः ॥224॥

- जुग्नू का जो तेज है, वह अल्प और विनाशी है। सूर्य का तेज उससे विपरीत है इस प्रकार बुध पुरुषों द्वारा यह पक्षपात और क्रियादि भावन किया जाना चाहिए।

★ जुग्नू, एक जीव विशेष, का जो प्रकाशात्मक तेज है, वह स्वरूप से अल्प और विनाशी है। सूर्य का तेज इससे विपरीत बहुत अधिक और अविनाशी है।

★ इसी प्रकार तत्त्व नीति से बुध-पंडित पुरुषों द्वारा भावन यानि चिंतन किया जाना चाहिए।

भावशून्य क्रिया, जुग्नू के तेज जैसी, अल्पकालीन होती है, इसलिए वह क्रिया अन्य जन्म में योग का प्रादुर्भाव नहीं कर सकती।

इससे विपरीत, तात्त्विक पक्षपात, सूर्य जैसा, अविनाशी और अधिक होता है इसलिए वह अन्य जन्म में भी योग का प्रादुर्भाव करने में समर्थ है।

★ इस प्रकार मात्र पक्षपात भी उपकारी है।

ग्रंथ श्रवण में विशेष कहते हैं-

श्रवणे प्रार्थनीयाः स्युर्न हि योग्याः कदाचन
यत्नः कल्याणसत्त्वानां महारत्ने स्थितो यतः ॥225॥

- योग्य जीव श्रवण के विषय में कभी भी प्रार्थनीय नहीं है। क्योंकि कल्याणकारी जीवों का प्रयत्न महारत्न में स्थित होता है।

★ योग्य जीवों को ग्रंथ श्रवण करने के लिए कभी प्रार्थना नहीं करना पड़ती क्योंकि उनमें शुश्रूषा गुण होने से वे स्वयं ही प्रवृत्ति करते हैं।

★ यहाँ दृष्टांत देते हैं- कल्याण वाले जीवों का यानि पुण्यवान् जीवों का प्रयत्न चिंतामणि आदि महारत्नों में ही होता है अर्थात् वे कभी नीच या हल्का

DATE __/__/____

कार्य नहीं करते, वैसे ही ~~इस प्रकार के औचित्य के क्षेम~~ योग्य जीव भी स्वयं ही श्रवण में जुड़ते हैं।

यतः शब्द प्रचलित कहावत बताने के लिए है।

★ १. यदि योग्य जीवों को श्रवण योग्य सामग्री न मिले तो उन्हें उपकार कैसे ★ होगा? इसलिए प्रार्थना करना चाहिए जिससे उन्हें पता चले और वे श्रवण में जुड़े।

२. यदि योग्य जीवों को सामग्री न मिले तो भी उस प्रकार के औचित्य के योग से (शुश्रूषादि गुणों से) मात्र पक्षपात आदि से भी उन्हें अन्य जन्म में योग की प्राप्ति होने की बात शास्त्रों में सुनी जाती है। इसलिए वे प्रार्थनीय नहीं है, श्रवण में उनकी स्वतः प्रवृत्ति होती है।

अयोग्य जीवों को ग्रंथ देने में होने वाले दोष के परिहार के लिए कहते हैं-

नैतद्विदस्त्वयोग्येभ्यो ददत्येनं तथापि तु
हरिभद्र इदं प्राह नैतेभ्यो देय आदरात् ॥226॥

- इस ग्रंथ के विद्वान् ~~इस~~ ग्रंथ को अयोग्य जीवों को नहीं देते हैं। फिर भी हरिभद्रसू.म. यह (यह) कहते हैं कि ऐसे अयोग्य जीवों को नहीं देना चाहिए।

★ इस ग्रंथ के विद्वान् ऐसे आचार्य यह योगदृष्टिसमुच्चय नामक ग्रंथ अयोग्य ऐसे अन्य जीवों को नहीं देते हैं।

★ इस प्रकार होने पर भी ग्रंथकर्ता पू. हरिभद्रसू. म. आदर से यह कहते हैं कि यह ग्रंथ अयोग्य जीवों को नहीं देना चाहिए।

अयोग्य जीवों को यह ग्रंथ नहीं देने का कारण कहते हैं-

अवज्ञेह कृतात्स्वल्पापि यदनर्थाय जायते
अतस्तत्परिहारार्थं न पुनर्भावदोषतः ॥227॥

- इस ग्रंथ विषयक की हुई अल्प भी अवज्ञा अनर्थ के लिए होती है। इसलिए अनर्थ के परिहार के लिए अयोग्य को ~~दे~~ देने का निषेध है किंतु

DATE ___/___/_____

भाव दोष से नहीं।

★ इस योगदृष्टिसमुच्चय नामक ग्रंथ विषयक की हुई अल्प भी अवज्ञा इस ग्रंथ का महान् विषयत्व होने से, अनर्थ के लिए होती है।

★ इसी कारण से पू. हरिभद्र सू.म. अयोग्य जीवों के अनर्थ के परिहार के लिए यह ग्रंथ अयोग्य को देने की मना करते हैं किंतु क्षुद्रता से, भाव दोष से यानि स्वयं के कोई मलिन भाव के कारण निषेध नहीं करते।

इस प्रकार 'अयोग्य जीवों को यह ग्रंथ नहीं देना चाहिए' यह कथन स्वीकारने योग्य है। इसी कारण से कहते हैं-

योग्येभ्यस्तु प्रयत्नेन देयोऽयं विधिनाऽन्वितैः
मात्सर्यविरहेणोच्चैः श्रेयोविघ्नप्रशान्तये ॥२२६॥

- श्रेय में आते विघ्न की प्रशान्ति के लिए, विधि से युक्त ऐसे आचार्यों द्वारा मात्सर्य के विरह से और प्रयत्नपूर्वक यह ग्रंथ योग्य जीवों को देने योग्य है।

★ श्रवण आदि के विषय वाली ऐसी विधि से युक्त योगाचार्यों द्वारा यह ग्रंथ योग्य श्रोताओं को, उपयोग है प्रधान जिसमें, ऐसे उपयोग प्रधान प्रयत्न द्वारा देने योग्य है।

★ प्र. विधि युक्त आचार्यों द्वारा ही क्यों? उ. अन्यथा प्रत्यवाय के संभव से दोष भी हो सकता है, इस प्रकार आचार्य कहते हैं अर्थात् यदि वक्ता विधि रहित हो तो विपरीत प्ररूपणा आदि से कर्मबंध रूप प्रत्यपाय के संभव होने से दोष होता है।

★ प्र. यह ग्रंथ कैसे देना चाहिए? उ. मात्सर्य विरह पूर्वक अर्थात् श्रोता प्रति अथवा उस दर्शन प्रति सर्वथा मात्सर्य का विरह करने पूर्वक यह ग्रंथ देना चाहिए।

★ प्र. यह ग्रंथ क्यों देना चाहिए? उ. श्रेय में विघ्नों की अत्यंत प्रशांति के लिए

DATE __/__/__

अर्थात् श्रोता के अथवा स्वयं के कल्याण मार्ग में जो विघ्न आते हैं उन विघ्नों की अत्यन्त प्रशांति के लिए यह ग्रंथ देना चाहिए।

समाप्तोऽयं श्रीयोगदृष्टिसमुच्चयः
कृतिः श्रीश्वेताम्बिक्षोराचार्यश्रीहरिभद्रस्येति ॥

श्रीगोवालियाटेन्क जैनसङ्घमध्ये 'मुंबई' पुर्यां ~~अस्मं~~ इदं श्रीयोगदृष्टिसमुच्चयाख्यं ग्रन्थं सविवेचनं (हिन्दीभाषायां) लिखितं।
समाप्तिवासरः - वि.सं. 2072, ई.सन् 2015, का.सु. 6